श्रीदेवसेनाचार्यविरचित

दर्शनसार।

मूल, संस्कृतच्छाया, हिन्दी अर्थ और
विस्तृत विनेवचसहित।

[जैनहितैषीसे उद्धृत]

सम्पादक और प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी
जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय,
हीराबाग, बम्बई।

भाद्र १९७४ वि०।

प्रथमावृत्ति।] [मूल्य चार आने।

Printed by Ghintaman Sakharam Deole, at the Bombay Vaibhav
Press, Servants of India Society's Budilding, Sandhurst
Road, Girgaon, Bombay
And
Published by Nathuram Premi, Proprietor, Jain-granth Ratnakar
Karyalaya, Hirabag, Bombay.

श्रीदेवसेनाचार्य संकलित

दर्शनसार ।

पणमिय वीरजिणिंदं सुरसेणणमंसियं विमलणाणं ।
वोच्छं दंसणसारं जह कहियं पुव्वसूरीहिं ॥ १ ॥

प्रणम्य वीरजिनेन्द्रं सुरसेननमस्कृतं विमलज्ञानम् ।
वक्ष्ये दर्शनसारं यथा कथितं पूर्वसूरिभिः ॥ १ ॥

अर्थ—जिनका ज्ञान निर्मल है और देवसमूह जिन्हें नमस्कार करते हैं, उन महावीर भगवानको प्रणाम करके, मैं पूर्वाचार्योंके कथनानुसार 'दर्शनसार' अर्थात् दर्शनों या जुदा जुदा मतोंका सार कहता हूँ।

भरहे तित्थयराणं पणमियदेविंदणागगरुडानाम् ।
समएसु होंति केई मिच्छत्तपवट्टगा जीवा ॥ २ ॥

भरते तीर्थकराणां प्रणमितदेवन्द्रनागगरुडानाम् ।
समयेषु भवन्ति केचित् मिथ्यात्वप्रवर्तका जीवाः ॥ २ ॥

अर्थ—इस भारतवर्षमें, इन्द्र-नागेन्द्र-गरुडेन्द्र द्वारा पूजित तीर्थकरोंके समयोंमें (धर्मतीर्थोंमें) कितने ही मनुष्य मिथ्यामतोंके प्रवर्तक होते हैं।

मतप्रवर्तकोंके मुखियाकी उत्पत्ति।

उसहजिणपुत्तपुत्तो मिच्छत्तकलंकिदो महामोहो।
सव्वेसिं भट्टाणं धुरि गणिओ पुव्वसूरीहिं ॥ ३ ॥

ऋषभजिनपुत्रपुत्रो मिथ्यात्वकलङ्कितो महामोहः।
सर्वेषां भट्टानां धुरि गणितः पूर्वसूरिभिः ॥ ३ ॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंके द्वारा, भगवान् ऋषभदेवका महामोही और मिथ्याती पोता 'मरीचि' तमाम दार्शनिकों या मतप्रवर्तकोंका अगुआ गिना गया है।

तेण य कयं विचित्तं दंसणरूवं संजुत्तिसंकलियं।[1]
तम्हा इयराणं पुण समए तं हाणिविड्ढिगयं ॥ ४ ॥

तेन च कृतं विचित्रं दर्शनरूपं सयुक्तिसंकलितम्।
तस्मादितराणां पुनः समये तद्धानिवृद्धिगतम् ॥ ४ ॥

अर्थ—उसने एक विचित्र दर्शन या मत ऐसे ढँगसे बनाया कि वह आगे चलकर उससे भिन्न भिन्न मतप्रवर्तकोंके समयोंमें हानिवृद्धिको प्राप्त होता रहा। अर्थात् उसीके सिद्धान्त थोड़े बहुत परिवर्तित होकर आगेके अनेक मतोंके रूपमें प्रकट होते रहे।

एयंतं संसइयं विवरीयं विणयजं महामोहं।
अण्णाणं मिच्छत्तं णिद्दिट्ठं सव्वदरसीहिं ॥ ५ ॥

---

१ क पुस्तकमें 'समुत्तिसकलिय' पाठ है। परन्तु इन दोनों ही पाठोंका वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ।

एकान्त सांशयिकं विपरीत विनयज्ञं महामोहम्।
अज्ञानं मिथ्यात्वं निर्दिष्टं सर्वदर्शिभिः॥ ५॥

अर्थ—सर्वदर्शी ज्ञानियोंने मिथ्यात्वके पाँच भेद बतलाये हैं–एकान्त, संशय, विपरीत, विनय और अज्ञान।

सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो[1] बुड्ढकित्तिमुणी॥ ६॥

श्रीपार्श्वनाथतीर्थे सरयूतीरे पलाशनगरस्थः।
पिहितास्रवस्य शिष्यो महाश्रुतो बुद्धकीर्तिमुनिः॥ ६॥

अर्थ—श्रीपार्श्वनाथ भगवानके तीर्थमें सरयू नदीके तटवर्ती पलाश नामक नगरमें पिहितास्रव साधुका शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ जो महाश्रुत या बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था।

तिमिपूरणासणेहिं अहिगयपवज्जाओ परिब्भट्ठो[2]।
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं॥ ७॥

तिमिपूर्णाशनैः अधिगतप्रवज्यातः परिभ्रष्टः।
रक्ताम्बरं धृत्वा प्रवर्तित तेन एकान्तम्॥ ७॥

---

१ क पुस्तकमें 'महालुद्धो' और गमें 'महालुदो' पाठ हैं, जिनका अर्थ महालुब्ध होता है।

२ क पुस्तकमें 'अगणिय पावज्ज जाउ परिभट्ठो' है, जिसका अर्थ होता है–अगणित पापका उपार्जन करके भ्रष्ट हो गया। ख पुस्तकमें 'अगहिय पवज्जाओ परिब्भट्ठो' पाठ है, परन्तु उसमें अगहिय (अगृहीत) का अर्थ ठीक नहीं बैठता है। संभव है 'अहिगय' (अधिगत) ही भूलसे 'अगहिय,' लिखा गया हो।

अर्थ—मछलियोंके आहार करनेसे वह ग्रहण की हुई दीक्षासे भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकान्त मतकी प्रवृत्ति की ।

मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय-दुद्ध-सक्करए ।
तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंतो ण पाविट्ठो ॥ ८ ॥

मांसस्य नास्ति जीवो यथा फले दधिदुग्धशर्करायां च ।
तस्मात्तं वाञ्छन् तं भक्षन् न पापिष्ठः ॥ ८ ॥

अर्थ—फल, दही, दूध, शक्कर, आदिके समान मांसमें भी जीव नहीं है, अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करनेमें कोई पाप नहीं है ।

मज्जं ण वज्जणिज्जं दवदव्वं जहजलं तहा एदं ।
इदि लोए घोसित्ता पवट्टियं सव्वसावज्जं ॥ ९ ॥

मद्य न वर्जनीयं द्रवद्रव्यं यथा जलं तथा एतत् ।
इति लोके घोषयित्वा प्रवर्तितं सर्वसावद्यं ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य अर्थात् तरल या बहनेवाला पदार्थ है उसी प्रकार शराब है, वह त्याज्य नहीं है । इस प्रकारकी घोषणा करके उसने संसारमें सम्पूर्ण पापकर्मकी परिपाटी चलाई ।

अण्णो करेदि कम्मं अण्णो तं भुंजदीदि सिद्धंतं ।
परि कप्पिऊण णूणं वसिकिच्चा णिरयमुववण्णो ॥ १० ॥

अन्य. करोति कर्म अन्यस्तद्भुनक्तीति सिद्धान्तम् ।
परिकल्पयित्वा नूनं वशीकृत्य नरकमुपपन्नः ॥ १० ॥

अर्थ—एक पाप करता है और दूसरा उसका फल भोगता है, इस तरहके सिद्धान्तकी कल्पना करके और उससे लोगोंको वशमें करके

या अपने अनुयायी बनाकर वह मरा और नरकमें गया। (इसमें बौद्धके क्षणिकवादकी ओर इशारा किया गया है। जब संसारकी सभी वस्तुयें क्षणस्थायी है, तब जीव भी क्षणस्थायी ठहरेगा और ऐसी अवस्थामें एक मनुष्यके शरीरमें रहनेवाला जीव जो पाप करेगा उसका फल वही जीव नहीं, किन्तु उसके स्थान पर आनेवाला दूसरा जीव भोगेगा।)

श्वेताम्बरमतकी उत्पत्ति ।

छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥ ११ ॥

षट्त्रिंशत्सु वर्षशते विक्रमराजस्य मरणप्राप्तस्य ।
सौराष्ट्रे वल्लभ्यां उत्पन्नः सितपटः संघः ॥ ११ ॥

अर्थ—विक्रमादित्यकी मृत्युके १३६ वर्ष बाद सौराष्ट्र देशके वल्लभीपुरमें[1] श्वेताम्बरसंघ उत्पन्न हुआ ।

सिरिभद्दबाहुगणिणो सीसो णामेण संति आइरिओ ।
तस्स य सीसो दुट्ठो जिणचंदो मंदचारित्तो ॥ १२ ॥

श्रीभद्रबाहुगणिनः शिष्यो नाम्ना शान्ति आचार्यः ।
तस्य च शिष्यो दुष्टो जिनचन्द्रो मन्दचारित्रः ॥ १२ ॥

---

१ गुजरातके पूर्वमें भागा नगरके निकट यह प्राचीन शहर बसा हुआ था। बहुत समृद्धशाली था। ईस्वी सन् ६४० में चीनी यात्री हुएनसंगने इसका उल्लेख किया है। उस समयतक यह आबाद था। काठियावाड़का 'वला' नामक ग्राम जहाँ है, कोई कोई कहते हैं कि वहीं पर यह बसा हुआ था। श्वेताम्बर सूत्रोंका सम्पादन भी यहीं हुआ था।

अर्थ—श्रीभद्रबाहुमुनिके शिष्य शान्ति नामके आचार्य थे। उनका 'जिनचन्द्र' नामका एक शिथिलाचारी और दुष्ट शिष्य था।

तेण कियं मयमेयं इत्थीणं अत्थि तब्भवे मोक्खो।
केवलणाणीण पुणो अद्दक्खाणं तहा रोओ ॥१३॥

तेन कृतं मतमेतत् स्त्रीणां अस्ति तद्भवे मोक्षः।
केवलज्ञानिनां पुनः अद्दक्खाणं (?) तथा रोगः ॥ १३ ॥

अर्थ—उसने यह मत चलाया कि स्त्रियोंको उसी भवमें (पर्याय) से मोक्ष प्राप्त हो सकता है और केवलज्ञानी भोजन करते हैं तथा उन्हें रोग भी होता है।

अंबरसहिओ वि जई सिज्झइ वीरस्स गब्भचारत्तं।
पर लिंगे वि य मुत्ती फासुयभोजं च सव्वत्थ ॥१४॥

अम्बरसहितः अपि यतिः सिद्ध्यति वीरस्य गर्भचारत्वम्।
परलिङ्गेऽपि च मुक्तिः प्रासुकभोज्यं च सर्वत्र ॥ १४ ॥

अर्थ—वस्त्र धारण करनेवाला भी मुनि मोक्ष प्राप्त करता है, महावीर भगवान्के गर्भका संचार हुआ था, अर्थात् वे पहले ब्राह्मणीके गर्भमें आये, पीछे क्षत्रियाणीके गर्भमें चले गये, जैनसूत्रोंके अतिरिक्त अन्य सूत्रों या वेषोंसे भी मुक्ति हो सकती है और प्रासुक भोजन सबके हर किसीके यहाँ कर लेना चाहिए।

अण्णं च एवमाइ आगमदुट्ठाइं मित्थसत्थाइं।
विरइत्ता अप्पाणं परिठवियं पढमए णरए ॥ १५ ॥

अन्यं च एवमादिः आगमदुष्टानि मिथ्याशास्त्राणि।
विरच्य आत्मानं परिस्थापितं प्रथमे नरके ॥ १५ ॥

अर्थ—इसी प्रकार और भी आगमविरुद्ध बातोंसे दूषित मिथ्या शास्त्र रचकर वह पहले नरकको गया।

विपरीतमतकी उत्पत्ति।

सुव्वयतित्थे उज्झो खीरकदंवुत्ति सुद्धसम्मत्तो।
सीसो तस्स य दुट्ठो पुत्तो वि य पव्वओ वक्को॥१६॥

सुव्रततीर्थे उपाध्यायः क्षीरकदम्ब इति शुद्धसम्यक्त्वः।
शिष्यः तस्य च दुष्टः पुत्रोपि च पर्वतः वक्रः॥ १६ ॥

अर्थ—बावीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामीके समयमें एक क्षीरकदम्ब नामका उपाध्याय था। वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि था। उसका (राजा वसु नामका) शिष्य दुष्ट था और पर्वत नामका पुत्र वक्र था।

विवरीयमयं किच्चा विणासियं सच्चसंजमं लोए।
तत्तो पत्ता सव्वे सत्तमणरयं महाघोरं॥ १७ ॥

विपरीतमतं कृत्वा विनाशितः सत्यसंयमो लोके।
ततः प्राप्ताः सर्वे सप्तमनरकं महाघोरम्॥ १७ ॥

अर्थ—उन्होंने विपरीत मत बनाकर संसारमें जो सच्चा संयम (जीवदया) था, उसको नष्ट कर दिया और इसके फलसे वे सब (पर्वतकी माता आदि भी) घोर सातवें नरकमें जा पड़े।

वैनयिकोंकी उत्पत्ति।

सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाणं समुब्भवो अत्थि।
सजडा मुंडियसीसा सिहिणो णंगा य केई य॥१८॥

सर्वेषु च तीर्थेषु च वैनयिकानां समुद्भवः अस्ति।
सजटा मुण्डितशीर्षाः शिखिनो नग्नाश्च कियन्तश्च॥ १८॥

अर्थ—सारे ही तीर्थोंमें अर्थात् सभी तीर्थंकरोंके वारेमें वैनयिकोंका उद्भव होता रहा है। उनमें कोई जटाधारी, कोई मुंडे, काई शिखाधारी और कोई नग्न रहे है।

दुट्ठे गुणवंते वि य समया भत्तीय सव्वदेवाणं।
णमणं दंडुव्व जणे परिकलियं तेहि मूढेहिं॥ १९॥

दुष्टे गुणवति अपि च समया भक्तिश्च सर्वदेवेभ्यः।
नमनं दण्ड इव जने परिकलितं तैर्मूढैः॥ १९॥

अर्थ—चाहे दुष्ट हो चाहे गुणवान् हो, दोनोंमें समानतासे भक्ति करना और सारे ही देवोंको दण्डके समान आड़े पड़कर (साष्टांग) नमन करना, इस प्रकारके सिद्धान्तको उन मूर्खोने लोगोंमें चलाया।*

अज्ञानमतकी उत्पत्ति।

सिरिवीरणाहतित्थे बहुस्सुदो पाससंघगणिसीसो।
मक्कडिपूरणसाहू अण्णाणं भासए लोए॥ २०॥

श्रीवीरनाथतीर्थे बहुश्रुतः पार्श्वसंघगणिशिष्यः।
मस्करि-पूरनसाधुः अज्ञानं भाषते लोके॥ २०॥

अर्थ—महावीर भगवानके तीर्थमें पार्श्वनाथ तीर्थंकरके संघके किसी गणीका शिष्य मस्करी पूरन नामका साधु था। उसने लोकमें अज्ञान मिथ्यात्वका उपदेश दिया।

---

* विनय करनेसे या भक्ति करनेसे मुक्ति होती है, यही इस मतका सिद्धान्त जान पड़ता है।

अण्णाणादो मोक्खो णाणं णत्थीति मुत्तजीवाणं ॥
पुणरागमनं भमणं भवे भवे णत्थि जीवस्स ॥ २१ ॥

अज्ञानतो मोक्षो ज्ञानं नास्तीति मुक्तजीवानाम् ।
पुनरागमनं भ्रमणं भवे भवे नास्ति जीवस्य ॥ २१ ॥

अर्थ—अज्ञानसे मोक्ष होता है । मुक्त जीवोंको ज्ञान नहीं होता । जीवोंका पुनरागमन नहीं होता, अर्थात् वे मरकर फिर जन्म नहीं लेते और उन्हें भवभवमें भ्रमण नहीं करना पड़ता ।

एक्को सुद्धो बुद्धो कत्ता सव्वस्स जीवलोयस्स ।
सुण्णज्झाणं वण्णावरणं परिसिक्खियं तेण ॥ २२ ॥

एकः शुद्धो बुद्धः कर्त्ता सर्वस्य जीवलोकस्य ।
शून्यध्यानं वर्णावरणं परिशिक्षितं तेन ॥ २२ ॥

अर्थ—सारे जीवलोकका एक शुद्ध बुद्ध परमात्मा कर्ता है, शून्य या अमूर्तिक रूप ध्यान करना चाहिए, और वर्णभेद नहीं मानना चाहिए, इस प्रकारका उसने उपदेश दिया ।

जिणमग्गबाहिरं जं तच्चं संदरसिऊण पावमणो ।
णिच्चणिगोयं पत्तो सत्तो मज्जेसु विविहेसु ॥ २३ ॥

जिनमार्गबाह्यं यत् तत्त्वं संदर्श्य पापमनाः ।
नित्यनिगोदं प्राप्तः सक्तो मद्येषु विविधेषु ॥ २३ ॥

अर्थ—और भी बहुतसा जैनधर्मसे बहिर्भूत उपदेश देकर और तरह तरहकी शराबोंमें आसक्त रहकर वह पापी नित्यनिगोद (?) को प्राप्त हुआ ।

द्राविडसंघकी उत्पत्ति।

सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो॥ २४॥
अप्पासुयचणयाणं भक्खणदो वज्जिदो मुणिंदेहिं।
परिरइयं विवरीयं विसेसियं वग्गणं चोज्जं॥२५॥जुम्मं।

श्रीपूज्यपादशिष्यो द्राविडसंघस्य कारको दुष्टः।
नाम्ना वज्रनन्दिः प्राभृतवेदी महासत्त्वः॥ २४॥
अप्राशुकचणकाणां भक्षणतः वर्जितः मुनीन्द्रैः।
परिरचितं विपरीतं विशेषितं वर्गणं चोद्यम्[1] ॥२५॥ युग्मम्।

अर्थ—श्रीपूज्यपाद या देवनन्दि आचार्यका शिष्य वज्रनन्दि द्रविड संघका उत्पन्न करनेवाला हुआ। यह प्राभृत ग्रन्थों (समयसार, प्रवचनसार आदि) का ज्ञाता और महान् पराक्रमी था। मुनिराजोंने उसे अप्रासुक या सचित्त चनोंके खानेसे रोका; क्योंकि इसमें दोष होता है—पर उसने न माना और बिगड़कर विपरीतरूप प्रायश्चित्तादि शास्त्रोंकी रचना की।

बीएसु णत्थि जीवो उब्भसणं णत्थि फासुगं णत्थि।
सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठं॥२६॥

बीजेषु नास्ति जीवः उद्भक्षणं नास्ति प्राशुकं नास्ति।
सावद्यं न खलु मन्यते न गणति गृहकल्पितं अर्थम्॥ २६॥

---

[1] 'विशेषितं वर्गण चोद्य' पर क पुस्तकमें जो टिप्पणी दी है उसका अर्थ यह है कि उसने प्रायश्चित्त शास्त्र बनाये। उसीके अनुसार हमने यह अर्थ लिखा है परन्तु इसका अर्थ स्पष्टत समझमें नहीं आया।

अर्थ—उसके विचारानुसार बीजोंमें जीव नहीं हैं, मुनियोंको खड़े खड़े भोजन करनेकी विधि नहीं है, कोई वस्तु प्रासुक नहीं है। वह सावद्य भी नहीं मानता और गृहकल्पित अर्थको नहीं गिनता।

कच्छं खेत्तं वसहिं वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो।
ण्हंतो सीयलणीरे पावं पउरं स संजेदि॥ २७॥

कच्छं क्षेत्रं वसतिं वाणिज्यं कारायित्वा जीवन्।
स्नात्वा शीतलनीरे पापं प्रचुरं स संचयति॥ २७॥

अर्थ—कछार, खेत, वसतिका, और वाणिज्य आदि कराके जीवननिर्वाह करते हुए और शीतल जलमें स्नान करते हुए उसने प्रचुर पापका संग्रह किया। अर्थात् उसने ऐसा उपदेश दिया कि मुनिजन यदि खेती करावें, रोजगार करावें, वसतिका बनवावें और अप्रासुक जलमें स्नान करें तो कोई दोष नहीं है।

पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो॥ २८॥

पञ्चशते षड्विंशति विक्रमराजस्य मरणप्राप्तस्य।
दक्षिणमथुराजातः द्राविडसंघो महाघोरः॥ २८॥

अर्थ—विक्रमराजाकी मृत्युके ५२६ वर्ष बीतने पर दक्षिण मथुरा (मदुरा) नगरमें यह महामोहरूप द्राविडसंघ उत्पन्न हुआ।

यापनीय संघकी उत्पत्ति।

कल्लाणे वरणयरे सत्तसए पंच उत्तरे जादे।
जावणियसंघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो॥२९॥

---

१ ग प्रतिमें ‘ दुण्णि सए पंच उत्तरे ’ ऐसा पाठ है, जिसका अर्थ होता है, २०५ वर्ष।

कल्याणे वरनगरे सप्तशते पञ्चोत्तरे जाते ।

यापनीयसंघभाव. श्रीकलशतः खलु सितपटत ॥ २९ ॥

अर्थ—कल्याण नामके नगरमें विक्रम मृत्युके ७०५ वर्ष वीतने पर (दूसरी प्रतिके अनुसार २०५ वर्ष वीतने पर) श्रीकलशनाम श्वेताम्बर साधुसे यापनीय संघका सद्भाव हुआ।

काष्ठासंघकी उत्पत्ति ।

सिरिवीरसेणसीसो जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी।
सिरिपउमनंदिपच्छा चउसंघसमुद्धरणधीरो॥ ३० ॥

श्रीवीरसेनशिष्यो जिनसेनः सकलशास्त्रविज्ञानी ।

श्रीपद्मनान्दिपश्चात् चतु.संघसमुद्धरणधीरः ॥ ३० ॥

अर्थ—श्रीवीरसेनके शिष्य जिनसेन स्वामी सकल शास्त्रोंके ज्ञाता हुए। श्रीपद्मनन्दि या कुन्दकुन्दाचार्यके वाद ये ही चारों संघोंके उद्धार करनेमें समर्थ हुए।

तस्स य सिस्सो गुणवं गुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो।
पक्खुववासुद्धमदी महातवो भावलिंगो य॥ ३१ ॥

तस्य च शिष्यो गुणवान् गुणभद्रो दिव्यज्ञानपरिपूर्णः ।

पक्षोपवासः शुद्धमतिः महातपः भावलिङ्गश्च ॥ ३१ ॥

अर्थ—उनके शिष्य गुणभद्र हुए, जो गुणवान्, दिव्यज्ञानपरिपूर्ण, पक्षोपवासी, शुद्धमति, महातपस्वी और भावलिंगके धारक थे।

तेण पुणो वि य मिच्चुं णाऊण मुणिस्स विणयसेणस्स।
सिद्धंतं घोसित्ता सयं गयं सग्गलोयस्स॥ ३२ ॥

---

१ "तेणप्पणो वि मिच्चु" अर्थात् 'उन्होंने अपनी-भी मृत्यु जानकर' इस प्रकारका भी पाठ ख और ग प्रतियोंमें है।

तेन पुनः अपि च मृत्यु ज्ञात्वा मुनेः विनयसेनस्य ।
सिद्धान्तं घोषयित्वा स्वयं गतः स्वर्गलोकस्य ॥ ३२ ॥

अर्थ—विनयसेन मुनिकी मृत्युके पश्चात् उन्होंने सिद्धान्तोंका उपदेश दिया, और फिर वे स्वयं भी स्वर्गलोकको चले गये । अर्थात् जिनसेन मुनिके पश्चात् विनयसेन आचार्य हुए और फिर उनके बाद गुणभद्र स्वामी हुए ।

आसी कुमारसेणो णंदियडे विणयसेणदिक्खियओ ।
सण्णासभंजणेण य अगहियपुणदिक्खओ जादो ३३

आसीत्कुमारसेनो नन्दितटे विनयसेनदीक्षितः ।
संन्यासभञ्जनेन च अगृहीतपुनर्दीक्षो जातः ॥ ३३ ॥

अर्थ—नन्दीतट नगरमें विनयसेन मुनिके द्वारा दीक्षित हुआ कुमारसेन नामका मुनि था । उसने सन्याससे भ्रष्ट होकर फिरसे दीक्षा नहीं ली और

परिवज्जिऊण पिच्छं चमरं घित्तूण मोहकलिएण ।
उम्मग्गं संकलियं बागडविसएसु सव्वेसु ॥ ३४ ॥

परिवर्ज्य पिच्छं चमरं गृहीत्वा मोहकलितेन ।
उन्मार्गः संकलितः बागड़विषयेषु सर्वेषु ॥ ३४ ॥

अर्थ—मयूरपिच्छिको त्यागकर तथा चँवर (गौके वालोंकी पिच्छी) ग्रहण करके उस अज्ञानीने सारे वागड़ प्रान्तमें उन्मार्गका प्रचार किया।

इत्थीणं पुणदिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं ।
कक्कसकेसग्गहणं छट्ठं च गुणव्वदं नाम ॥ ३५ ॥

स्त्रीणां पुनर्दीक्षा क्षुल्लकलोकस्य वीरचर्यत्वम्।
कर्कशकेशग्रहणं षष्ठं च गुणव्रतं नाम ॥ ३५ ॥

आयमसत्थपुराणं पायच्छित्तं च अण्णहा किंपि।
विरइत्ता मिच्छत्तं पवट्टियं मूढलोएसु ॥ ३६ ॥

आगमशास्त्रपुराणं प्रायश्चित्तं च अन्यथा किमपि।
विरच्य मिथ्यात्वं प्रवर्तितं मूढलोकेषु ॥ ३६ ॥

अर्थ—उसने स्त्रियोंको दीक्षा देनेका, क्षुल्लकोंको वीरचर्याका, मुनियोंको कड़े बालोंकी पिच्छी रखनेका, और (रात्रिभोजनत्याग नामक) छट्ठे गुणव्रतका विधान किया। इसके सिवाय उसने अपने आगम, शास्त्र, पुराण और प्रायश्चित्त ग्रन्थोंको कुछ और ही प्रकारके रचकर मूर्ख लोगोंमें मिथ्यात्वका प्रचार किया।

सो समणसंघवज्जो कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो।
चत्तोवसमो रुद्दो कट्ठं संघं परूवेदि ॥ ३७ ॥

स श्रमणसंघवर्ज्यः कुमारसेनः खलु समयमिथ्यात्वी।
त्यक्तोपशमो रुद्रः काष्ठासंघं प्ररूपयति ॥ ३७ ॥

अर्थ—इस तरह उस मुनिसंघसे वहिष्कृत, समयमिथ्यादृष्टी, उपशमको छोड़ देनेवाले और रौद्र परिणामवाले कुमारसेनने काष्ठासंघका प्ररूपण किया।

सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
णंदियडे वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो ॥ ३८ ॥

सप्तशते त्रिपञ्चाशति विक्रमराजस्य मरणप्राप्तस्य।
नन्दितटे वरग्रामे काष्ठासंघो ज्ञातव्यः ॥ ३८ ॥

णंदियडे वरगामे कुमारसेणो य सत्थविण्णाणी।
कट्ठो दंसणभट्ठो जादो सल्लेहणाकाले ॥ ३९ ॥

नन्दितटे वरग्रामे कुमारसेनश्च शास्त्रविज्ञानी।
काष्ठः दर्शनभ्रष्टो जातः सल्लेखनाकाले ॥ ३९ ॥

अर्थ—विक्रमराजाकी मृत्युके ७५३ वर्ष बाद नन्दीतट ग्राममें काष्ठासंघ हुआ। इस नन्दीतट ग्राममें कुमारसेन नामका शास्त्रज्ञ सल्लेखनाके समय दर्शनसे भ्रष्ट होकर काष्ठासंघी हुआ।

माथुरसंघकी उत्पत्ति।

तत्तो दुसएतीदे महुराए माहुराण गुरुणाहो।
णामेण रामसेणो णिप्पिच्छं वण्णियं तेण ॥ ४० ॥

ततो द्विशतेऽतीते मथुराया माथुराणां गुरुनाथः।
नाम्ना रामसेनः निष्पिच्छिं वर्णितं तेन ॥ ४० ॥

अर्थ—इसके २०० वर्ष बाद अर्थात् विक्रमकी मृत्युके ९५३ वर्ष बाद मथुरा नगरीमें माथुर संघका प्रधान गुरु रामसेन हुआ। उसने निःपिच्छिक रहनेका वर्णन किया। अर्थात् यह उपदेश दिया कि मुनियोंको न मोरके पंखोंकी पिच्छी रखनेकी आवश्यकता है और न बालोंकी। उसने पिच्छीका सर्वथा ही निषेध कर दिया।

सम्मत्तपयडिमिच्छंतं कहियं जं जिणिंदबिंबेसु।
अप्पपरणिट्ठिएसु य ममत्तबुद्धीए परिवसणं ॥ ४१ ॥

---

१ 'कुमारसेणो हि णाम पव्वइओ' यह पाठ ख-ग पुस्तकोंमें मिलता है। 'पव्वइओ' की छाया 'प्रवर्तक.' होती है।

सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्वं कथितं यत् जिनेन्द्रबिम्बेषु ।
आत्मपरनिष्ठितेषु च ममत्वबुद्ध्या परिवसनम् ॥ ४१ ॥

एसो मम होउ गुरू अवरो णत्थित्ति चित्तपरियरणं ।
सगगुरुकुलाहिमाणो इयरेसु वि भंगकरणं च ॥४२॥

एष मम भवतु गुरुः अपरो नास्तीति चित्तपरिचलनम् ।
स्वकगुरुकुलाभिमान इतरेषु अपि भङ्गकरणं च ॥ ४२ ॥

अर्थ—उसने अपने और पराये प्रतिष्ठित किये हुए जिनबिम्बोंकी ममत्व बुद्धिद्वारा न्यूनाधिक भावसे पूजा-वन्दना करने; मेरा गुरु यह है, दूसरा नहीं है, इस प्रकारके भाव रखने; अपने गुरुकुल (संघ) का अभिमान करने और दूसरे गुरुकुलोंका मानभंग करनेरूप सम्यक्त्व-प्रकृतिमिथ्यात्वका उपदेश दिया।

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥४३॥

यदि पद्मनन्दिनाथः सीमन्धरस्वामिदिव्यज्ञानेन ।
न विबोधति तर्हि श्रमणाः कथ सुमार्गं प्रजानन्ति ॥ ४३ ॥

अर्थ—विदेहक्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकर सीमन्धर स्वामीके समवसरणमें जाकर श्रीपद्मनन्दिनाथ या कुन्दकुन्द स्वामीने जो दिव्य ज्ञान प्राप्त किया था, उसके द्वारा यदि वे बोध न देते, तो मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते ?

भूयबलिपुप्फयंता दक्खिणदेसे तहोत्तरे धम्मं ।
जं भासंति मुणिंदा तं तच्चं णिव्वियप्पेण ॥ ४४ ॥

भूतबलिपुष्पदन्तौ दक्षिणदेशे तयोत्तरे धर्मम् ।
यं भाषेते मुनीन्द्रौ तत्तत्त्वं निर्विकल्पेन ॥ ४४ ॥

अर्थ—भूतबलि और पुष्पदन्त इन दो मुनियोंने दक्षिण देशमें और उत्तरमें जो धर्म बतलाया, वही बिना किसी विकल्पके तत्त्व है, अर्थात् धर्मका सच्चा स्वरूप है ।

भिल्लकसंघकी उत्पत्ति ।

दक्खिणदेसे विंझे पुक्कलए वीरचंदमुणिणाहो ।
अट्ठारसएतीदे भिल्लयसंघं परूवेदि ॥ ४५ ॥

दक्षिणदेशे विन्ध्ये पुष्करे वीरचन्द्रमुनिनाथ. ।
अष्टादशशतेऽतीते भिल्लकसंघं प्ररूपयति ॥ ४५ ॥

सोणियगच्छंकिच्चा पडिकमणंतहयभिण्णकिरियाओ
वण्णाचारविवाई जिणमग्गं सुट्ठु णिहणेदि ॥ ४६ ॥

स निजगच्छं कृत्वा प्रतिक्रमणं तथा च भिन्नक्रियाः ।
वर्णाचारविवादी जिनमार्गं सुष्ठु निहनिष्यति ॥ ४६ ॥

अर्थ—दक्षिणदेशमें विन्ध्यपर्वतके समीप[1] पुष्कर नामके ग्राममें वीरचन्द्र नामका मुनिपति विक्रमराजाकी मृत्युके १८०० वर्ष बीतने बाद भिल्लक संघको चलायगा । वह अपना एक जुदा गच्छ बनाकर जुदा ही प्रतिक्रमणविधि बनायगा, भिन्न क्रियाओंका उपदेश देगा, और वर्णाचारका विवाद खड़ा करेगा । इस तरह वह सच्चे जैनधर्मका नाश करेगा ।

---

१ श्रवणबेलगुलमें विंध्यगिरि और चन्द्रगिरि नामके दो पर्वत हैं । विन्ध्यमे ग्रन्थकर्त्ताका अभिप्राय वहाँके विन्ध्यपर्वतसे है । दक्षिणमें और कोई विन्ध्यपर्वत नहीं है ।

तत्तो ण कोवि भणिओ गुरुगणहरपुंगवेहिं मिच्छत्तो ।
पंचमकालवसाणे सिच्छंताणं विणासो हि ॥ ४७ ॥

ततो न कोपि भणितो गुरुगणधरपुङ्गवैः मिथ्यात्वः ।
पञ्चमकालावसाने शिक्षकानां विनाशो हि ॥ ४७ ॥

अर्थ—इसके बाद गणधर गुरुने और किसी मिथ्यात्वका या मतका वर्णन नहीं किया। पंचमकालके अन्तमें सच्चे शिक्षक मुनियोंका नाश हो जायगा ।

एक्को वि य मूलगुणो वीरंगजणामओ जई होई ।
सो अप्पसुदो वि परं वीरोव्व जणं पवोहेइ ॥ ४८ ॥

एक अपि च मूलगुणः वीराङ्गजनामकः यतिः भविष्यति ।
स अल्पश्रुतोऽपि परं वीर इव जनं प्रबोधयिष्यति ॥ ४८ ॥

अर्थ—केवल एक ही वीरागज नामका यति या साधु मूलगुणोंका धारी होगा, जो अल्पश्रुत (शास्त्रोंका थोड़ा ज्ञान रखनेवाला) होकर भी वीर भगवानके समान लोगोंको उपदेश देगा ।

ग्रन्थकर्त्ताका अन्तिम वक्तव्य ।

पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥ ४९ ॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए ।
सिरि पासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए॥५०॥

पूर्वाचार्यकृता गाथाः संचयित्वा एकत्र ।
श्रीदेवसेनगणिना धाराया संवसता ॥ ४९ ॥

रचितो दर्शनसारो हारो भव्यानां नवशते नवके ।
श्रीपार्श्वनाथगेहे सुविशुद्धे माघशुद्धदशम्याम् ॥ ५० ॥

अर्थ—श्रीदेवसेन गणिने माघ सुदी १० वि० संवत् ९०९ को धारानगरीमें निवास करते समय पार्श्वनाथ भगवानके मन्दिरमें पूर्वाचार्योंकी बनाई हुई गाथाओंको एकत्र करके यह दर्शनसार नामका ग्रन्थ बनाया, जो भव्यजीवोंके हृदयमें हारके समान शोभा देगा ।

रूसउ तूसउ लोओ सच्चं अक्खंतयस्स साहुस्स ।
किं जूयभए साडी विवज्जियव्वा णरिंदेण ॥ ५१ ॥

रुष्यतु तुष्यतु लोकः सत्यमाख्यातकस्य साधोः ।
किं यूकाभयेन शाटी विवर्जितव्या नरेन्द्रेण ॥ ५१ ॥

अर्थ—सत्य कहनेवाले साधुसे चाहे कोई रुष्ट हो और चाहे सन्तुष्ट हो । उसे इसकी परवा नहीं। क्या राजाको जूँओंके भयसे वस्त्र पहनना छोड़ देना चाहिए ? कभी नहीं ।

दर्शनसार-विवेचना ।
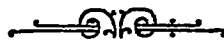
१ इस ग्रन्थके रचयिता या संग्रहकर्त्ता श्रीमान् देवसेनसूरि है । भावसंग्रह नामका एक प्राकृत ग्रन्थ है, जो ९६० श्लोकोंमें पूर्ण हुआ है, जिसके मंगलाचरण और प्रशस्तिसे पता लगता है कि वह भी इन्हीं देवसेनसूरिका बनाया हुआ हैं और वे विमलसेन गणिके शिष्य थे। यथाः—

मं०— पणमिय सुरसेणणुयं मुणिगणहरवंदियं महावीरं ।
वोच्छामि भावसंगहमिणमो भव्वपवोहट्ठं ॥ १ ॥

अन्त—सिरिविमलसेणगणहरसिस्सो णामेण देवसेणुत्ति ।
अबुहजणवोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥ ६७ ॥

इसके सिवाय इनके विषयमें और कुछ मालूम नहीं हुआ । इनका संघ समवतः मूलसंघ ही होगा । क्योंकि अन्य सत्र संघोंको इन्होंने जैनाभास बतलाया है । इनका बनाया हुआ ‘ आराधनासार ’ नामका एक ग्रन्थ माणिकचन्द ग्रन्थमालामें छप गया है । ‘ तत्वसार ’ नामका एक और छोटासा ग्रन्थ है, जिसके छपानेका प्रवन्ध हो रहा है । इनके सिवाय ज्ञानसार, आदि और भी कई ग्रन्थ देवसेनके बतलाये जाते हैं; पर मालूम नहीं वे इन्हीं देवसेनके हैं, या अन्य किसीके । इनकी सत्र रचना प्राकृतमें ही है । इस ग्रन्थका सम्पादन इन्होंने विक्रम संवत ९०९ की माघ शुक्ला दशमीको किया है । उस समय ये धारानगरीके पार्श्वनाथके मन्दिरमें निवास करते थे ।

२ इस ग्रन्थकी पहली गाथाके ‘ जह कहियं पुव्वसूरीहि’ (जैसा पूर्वाचार्योंने कहा है) पदसे और ४९ वीं गाथाके ‘ पुव्वायरियक्याइ गाहाइं संचिऊण एयत्थ ’ (पूर्वाचार्योंकी बनाई हुई गाथाओंको एकत्र संचित करके बनाया) आदि पदसे मालूम होता है कि इस ग्रन्थकी अधिकांश गाथायें पहलेकी बनी हुई होंगीं और वे अन्य ग्रन्थोंसे ले ली गई होंगीं । खासकर मतोंकी उत्पत्ति आदिके सम्बन्धकी जो गाथायें हैं वे ऐसी ही जान पड़ती है ।काष्ठासघकी उत्पत्तिके सम्बन्धकी जो गाथायें है उन्हें यदि ध्यानसे पढ़ा जाय तो मालूम होता है कि वे सिलासिलेवार नहीं हैं, उनमें पुनरुक्तियाँ बहुत है । अवश्य ही वे एकाधिक स्थानोंसे संग्रह की गई है ।

३ ग्रन्थकर्त्ताने दर्शनोंकी उत्पत्तिके क्रम पर भी ध्यान नहीं रक्खा है । यदि समयके अनुसार यह क्रम रक्खा गया होता तो वैनायिकोंकी उत्पत्ति बौद्धोंसे पहले, और मस्करीकी उत्पत्ति श्वेताम्बरोंसे पहले

लिखी जानी चाहिए थी। मालूम नहीं, श्वेताम्बरोंको उन्होंने मस्करिसे पहले और वैनायिकोंको बौद्धोंके बाद क्यों लिखा है। संभव है, 'एयंतं विवरीयं' आदि गाथाके क्रमको ठीक रखनेके लिए ऐसा किया गया हो।

४ इस पुस्तकका पाठ तीन प्रतियोंके आधारसे मुद्रित किया गया है। क प्रति श्रीमान् सेठ माणिकचन्द्र पानाचन्दजीके भण्डारकी है, जिस पर लिपिसमय नहीं लिखा है। इस पर कुछ टिप्पणियाँ भी दी हुई है। यह अधिक शुद्ध नहीं है। ख प्रति बम्बईके तेरहपंथी मन्दिरके कमसे कम ५०० वर्ष पहलेके लिखे हुए एक गुटके पर लिखी हुई है, जो प्रायः बहुत ही शुद्ध है। अवश्य ही इसमें कई जगह काष्ठासंघकी जगह हड़ताल लगा-लगाकर मूलसंघ या मयूरसंघ लिख दिया है और यह करतूत काष्ठासंघी भट्टारक श्रीमान् श्रीभूषणजीकी है जो वि० संवत् १६३६ में अहमदाबादकी गद्दी पर विराजमान थे। इस विषयमें हम एक लेख जैनहितैषीके ५ वें भागके ८ वें अंकमें प्रकाशित कर चुके हैं। तीसरी ग प्रति रायल एशियाटिक सुसाइटी (बाम्बे ब्रैंच) जरनलके नं. १५ जिल्द १८ में छपी हुई है। यह बहुत ही अशुद्ध है। फिर भी इससे संशोधनमें सहायता मिली है।

५ इसमें सब मिलाकर १० मतोंकी उत्पत्ति बतलाई गई है। वे मत ये हैं—१ बौद्ध, २ श्वेताम्बर, ३ ब्राह्मणमत, ४ वैनयिक मत, ५ मंखलि-पूरणका मत, ६ द्राविडसंघ, ७ यापनीय सघ ८ काष्ठासंघ, ९ माथुरसंघ, और १० भिल्लक संघ। इनमेंसे पहले पाँच तो क्रमसे एकान्त, संशय, विपरीत, विनयज, और अज्ञान इन पाँच मिथ्यात्वोंके भीतर बतलाये गये हैं, पर शेष पाँचको इन पाँच मिथ्यात्वोंमेंसे किसमें गिना जाय, सो नहीं मालूम होता। ३८ वीं गाथामें काष्ठासंघके प्रवर्तक कुमारसेनको 'समयमिच्छत्तो' या समयमिथ्याती विशेषण दिया है;

संभव है कि काष्ठासंघकेसमान शेष चार मत भी समयमिथ्यातियोंके ही भीतर गिने गये हों। पर यदि ये समयमिथ्याती हैं, तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी क्यों न समयमिथ्याती गिना जाय ? अन्य लेखकोंने काष्ठासंघ आदिको 'जैनाभास' बतलाया है, पर उन्होंने इनके साथ ही श्वेताम्बरोंको भी शामिल कर लिया है । यथाः—

गोपुच्छकः श्वेतवासो द्राविडो यापनीयकः ।
निःपिच्छिकश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥

—नीतिसार ।

देवसेनके ही समान गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्रने भी श्वेताम्बर सम्प्रदायको सांशयिकमाना है; परन्तु यह बात समझमें नहीं आती कि श्वेताम्बर मत सांशयिक क्यों है। विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञानको संशय माना है । अतएव संशयीका सिद्धान्त इस प्रकारका होना चाहिए कि— न मालूम आत्मा है या नहीं, स्त्रियाँ मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं या नहीं, इत्यादि । परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायका तो ऐसा कोई सिद्धान्त मालूम नहीं होता । दिगम्बर सम्प्रदायकी दृष्टिसे उसके वस्त्रसहित मोक्ष मानना, स्त्रियोंको मोक्ष मानना, चाहे जिसके घर प्रासुक भोजन करना आदि सिद्धान्त 'विपरीत' हो सकते है न कि 'संशयमिथ्यात्व'। इसके सिवाय 'स्त्रीमुक्ति' और 'केवलिभुक्ति' ये दो बातें तो श्वेताम्बरोंके समान यापनीय सम्प्रदाय भी मानता है, पर वह 'सांशयिक' नहीं, समयमिथ्याती ही बतलाया गया है ।

६ तीसरी और चौथी गाथामें बतलाया है कि ऋषभदेवका पोता तमाम मिथ्यामतप्रवर्तकोंमें प्रधान हुआ और उसने एक विचित्र मत रचा, जो आगे हानिवृद्धिरूप होता रहा। भगवज्जिनसेनके आदिपुराणसे मालूम होता है कि इस पोतेका नाम मरीचि था, जिसके विषयमें लिखा है:—

मरीचिश्च गुरोर्नप्ता परिव्राड्भूयमास्थित.।
मिथ्यात्ववृद्धिमकरोदपसिद्धान्तभाषितैः ॥ ६१ ॥
तदुपज्ञमभूद्योगशास्त्रं तंत्रं च कापिलम्।
येनायं मोहितो लोकः सम्यग्ज्ञानपराङ्मुखः ॥ ६२ ॥

अर्थात् भगवान्का पोता मरीचि भी (अन्यान्य लोगोंके साथ) परिव्राजक हो गया था। उसने असत्सिद्धान्तोंके उपदेशसे मिथ्यात्वकी वृद्धि की। योगशास्त्र (पतञ्जलिका दर्शन) और कापिल तंत्र (सांख्य शास्त्र) को उसीने रचा, जिनसे मोहित होकर यह लोक सम्यग्ज्ञानसे विमुख हुआ। आदिपुराणके इन श्लोकोंसे मालूम होता है कि सांख्य और योगका प्रणेता मरीचि है, परन्तु वास्तवमें सांख्यदर्शनके प्रणेता कापिल और योगशास्त्रके कर्ता पतञ्जलि है। दर्शनसारकी चौथी गाथासे इसका समाधान इस रूपमें हो जाता है कि मरीचि इन शास्त्रोंका साक्षात् प्रणेता नहीं है। अवश्य ही उसने अपना विचित्र मत बनाया था, उसीमें रद्दोबदल होता रहा और फिर वही सांख्य और योगके रूपमें एक वार व्यक्त हो गया। अर्थात् इनके सिद्धान्तोंके बीज मरीचिके मतमें मौजूद थे। सांख्य और योग दर्शनोंके प्रणेता लगभग ढाई हजार वर्ष पहले हुए हैं; पर ऋषभदेवको हुए जैनशास्त्रोंके अनुसार करोड़ों ही नहीं किन्तु अर्वों खर्वोसे भी अधिक वर्ष बीत गये हैं। उनके समयमें सांख्य आदिका मानना इतिहासकी दृष्टिसे नहीं बन सकता। श्वेताम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें भी मरीचिको सांख्य और योगका प्ररूपक माना है।

७ पाँचवी गाथामें जो पाँच मिथ्यात्व बतलाये है, वे ही गोम्मटसारके जीवकाण्डमें भी दिये हैं:—

एयंत विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं।

वहाँ पर इन पाँचोंके उदाहरण भी दिये हैं:—

एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बंभ तावसो विणओ ।
इंदो वि य संसइओ मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥

इसमें बौद्धको एकान्तवादी, ब्रह्म या ब्राह्मणोंको विपरीतमति, तापसों-को वैनयिक, इन्द्रको सांशयिक, और मंखलि या मस्करीको अज्ञानी बतलाया है। टीकाकार लोग इन्द्रका अर्थ इन्द्र नामक श्वेताम्बराचार्य करते हैं, पर इसके ठीक होनेमें सन्देह है । आश्चर्य नहीं, जो गोम्मटसारके कर्ताका इस इन्द्रसे और ही किसी आचार्यका अभिप्राय हो जो किसी संशयरूप मतका प्रवर्तक हो। क्यों कि एक तो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस नामका कोई आचार्य प्रसिद्ध नहीं है और दूसरे इस दर्शनसारमें भद्रबाहुके शिष्य शान्ताचार्यका शिष्य जिनचन्द्र नामका साधु श्वेताम्बरसम्प्रदायका प्रवर्तक बातलया गया है।

८ छठी और सातवी गाथासे मालूम होता है कि बुद्धकीर्ति मुनिने बौद्धधर्मकी स्थापना की। बुद्धकीर्ति शायद बुद्धदेवका ही नामान्तर है। इसने दीक्षासे भ्रष्ट होकर अपना नया मत चलाया, इसका अभिप्राय यह है कि यह पहले जैनसाधु था। बुद्धकीर्ति नाम जैनसाधुओं जेसा ही है। बुद्धकीर्तिको पिहितास्रव नामक साधुका शिष्य बतलाया है। स्वामी आतमारामजीने लिखा है कि पिहितास्रव पार्श्वनाथकी शिष्यपर-म्परामें था। श्वेताम्बर ग्रन्थोंसे पता लगता है कि महावीर भगवानके समयमें पार्श्वनाथकी शिष्यपरम्परा मौजूद थी। बौद्धधर्मकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें माथुरसंघके सुप्रसिद्ध आचार्य अमितगति लिखते है किः—

रुष्टः श्रीवीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायनः ।
शिष्यः श्रीपार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम् ॥ ६ ॥
शुद्धोदनसुतं बुद्धं परमात्मानमब्रवीत् ।

अर्थात् पार्श्वनाथकी शिष्यपरम्परामें मौडिलायन नामका तपस्वी था। उसने महावीर भगवान्से रुष्ट होकर बुद्धदर्शनको चलाया और

शुद्धोदनके पुत्र बुद्धको परमात्मा कहा। दर्शनसार और धर्मपरीक्षाकी वतलाई हुई वातोंमें विरोध मालूम होता है। पर एक तरहसे दोनोंकी संगति बैठ जाती है। महावग्ग आदि बौद्ध ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि मौडिलायन और सारीपुत्त दोनों बुद्धदेवके प्रधान शिष्य थे। ये जब बुद्धदेवके शिष्य होनेको जा रहे थे, तब इनके साथी संजय परिव्राजकने इन्हें रोका था। इससे मालूम होता है कि ये पहले जैन रहे होंगे और मौडिलायनका गुरु पार्श्वनाथकी परम्पराका कोई साधु होगा। मौडिलायन बौद्धधर्मके प्रधान प्रचारकोंमें था, इस कारण ही शायद वह बौद्धधर्मका प्रवर्तक कह दिया गया है; परन्तु वास्तवमें वह शुद्धोदनसुत बुद्धका शिष्य और उन्हींके सिद्धान्तोंका प्रचारक था। अब उक्त दोनों ग्रन्थोंका सम्मिलित अभिप्राय यह निकला कि पार्श्वनाथके धर्मतीर्थमें पिहितास्रव नामक जैनसाधुके शिष्य बुद्धदेव हुए और बुद्धदेवका शिष्य मौडिलायन हुआ, जो स्वयं भी पहले जैन था।

९ आठवींसे १० वीं गाथा तक बौद्धधर्मके कुछ सिद्धान्त वतलाये गये हैं। पहला यह है कि मांसमें जीव नहीं है। बौद्धधर्ममें 'प्राणिवध' का तो तीव्र निषेध है, परन्तु यह आश्चर्य है कि वह मरे हुए प्राणीके मांसमें जीव नहीं मानता। मद्यके पीनेमें दोष नहीं है ऐसा जो कहा गया है, सो ठीक नहीं मालूम होता। क्योंकि बौद्ध साधुओंको 'विनयपिटक' आदि ग्रंथोंके अनुसार जो दशशील ग्रहण करना पड़ते है और जिन्हें बौद्धधर्मके मूल गुण कहना चाहिए उनमेंसे पाँचवाँ शील इन शब्दोंमें ग्रहण करना पड़ता है—' मैं मद्य या किसी भी मादक द्रव्यका सेवन नहीं करूँगा।' ऐसी दशामें शराब पीनेकी आज्ञा बुद्धदेवने दी, यह नहीं कहा जा सकता।

१० ग्यारहवीं और वारहवीं गाथामें श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्तिका समय और उसके उत्पादकका नाम वतलाया गया है। श्वेताम्ब—

रके समान और और सम्प्रदायोंकी उत्पत्तिका समय भी इसमें बतलाया है। इस विषयमें यह बात विचारणीय है कि क्या किसी सम्प्रदायकी उत्पत्ति किसी एक नियत समयमें हुई, ऐसा कहा जा सकता है? हमारी समझमें प्रत्येक सम्प्रदायकी उत्पत्ति लोगोंके मानसक्षेत्रोंमें बहुत पहलेसे हुआ करती है और वही धीरे धीरे बढ़ती बढ़ती जब खूब विस्तार पा लेती है तब किसी एक नेताके द्वारा प्रकट रूप धारण कर लेती है। अत एव किसी सम्प्रदायकी उत्पत्तिका जो समय बतलाया गया हो, समझना चाहिए उसके लगभग उस सम्प्रदायके विचार फैल रहे थे। ठीक उसी वर्षमें यह संभव हो सकता है कि उस सम्प्रदायके प्रधान पुरुषने कोई खास आदेश या उपदेश दिया हो, अथवा वह अपने अनुयायियोंको लेकर जुदा हो गया हो।

११ दर्शनसारमें श्वेताम्बरोंकी उत्पत्तिका जो समय (वि० संवत् १३६) बतलाया गया है, उससे बिलकुल मिलता हुआ समय श्वेताम्बरग्रन्थोंमें दिगम्बरोंकी उत्पत्तिका बतलाया है। यथा.—

छव्वाससहस्सेहिं नवुत्तरेहिं सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
तो वोडियाण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पन्ना ॥

अर्थात् वीर भगवानके मुक्त होनेके ६०९ वर्ष बाद बोटिकों (दिगम्बरों) का प्रवर्तक रथवीरपुरमें उत्पन्न हुआ। इसके अनुसार विक्रम संवत् १३९ में दिगम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई। दोनोंमें केवल ३ वर्षका अन्तर है। पर यह समय प्रामाणिक नहीं जान पड़ता। क्योंकि भद्रबाहु श्रुतकेवलीका समय श्रुतावतारादि अनेक ग्रन्थोंके अनुसार वीरनिर्वाणसंवत् १६२ के लगभग निश्चित है। १६२ में उनका स्वर्गवास हो चुका था। श्वेताम्बर गुर्वावलियोंमें बतलाया हुआ समय भी इसीके समीप है। उनके अनुसार वीर नि० संवत् १७० में भद्रबाहुका स्वर्गवास हुआ है। अर्थात् दोनोंके मतसे

भद्रवाहुका समय मिल जाता है। भद्रवाहुके समयमें जो १२ वर्षका दुर्भिक्ष पड़ा था, उसका उल्लेख भी श्वेताम्वर ग्रन्थोंमें है, जिसे दिगम्बर ग्रन्थोंमें श्वेताम्वर सम्प्रदायके होनेका एक मुख्य कारण माना है। अब यदि भद्रवाहुके शिष्य शान्त्याचार्य और उनके शिष्य जिनचन्द्र इन दोनोंके होनेमें ४० वर्ष मान लिये जायँ तो दर्शनसारके अनुसार वीर नि० संवत् २०० (वि० सं० ६७०) में जिनचन्द्राचार्यने श्वेताम्वरसम्प्रदायकी स्थापना की, ऐसा मानना चाहिए। परन्तु नं० ११ की गाथामें श्वेताम्वर सम्प्रदायकी उत्पत्तिका समय विक्रम संवत् १३६ वतलाया गया है। अर्थात् दोनोंमें कोई ४५० वर्षका अन्तर है। यदि यह कहा जाय कि ये भद्रवाहु पंचम श्रुतकेवली नहीं, किन्तु कोई दूसरे ही थे, तो भी वात नहीं वनती। क्योंकि भद्रवाहुचरित्र आदि ग्रन्थोंमें लिखा है कि भद्रवाहु श्रुतकेवली ही दक्षिणकी ओर गये थे और राजा चन्द्रगुप्त उन्हींके शिष्य थे। श्रवणवेलगुलके लेखोंमें भी इस वातका उल्लेख है। दुर्भिक्ष भी इन्हींके समयमें पड़ा था जिसके कारण मुनियोंके आचरणमें शिथिलता आई थी। अतएव भद्रवाहुके साथ विक्रम संवत् १३६ की संगति नहीं वैठती। भद्रवाहुचरित्रके कर्त्ता रत्ननन्दिने भद्रवाहुके और संवत् १३६ के वीचके अन्तरालको भर देनेके लिए श्वेताम्वरसम्प्रदायके 'अर्ध फालक' और 'श्वेताम्वर' इन दो भेदोंकी कल्पना की है, अर्थात् भद्रवाहुके समयमें तो 'अर्धफालक' या आधावस्त्र पहननेवाला सम्प्रदाय हुआ और फिर वही सम्प्रदाय कुछ समयके वाद वल्लभीपुरके राजा प्रजापालकी रानीके कहनेसे पूरा वस्त्र पहननेवाला श्वेताम्वर सम्प्रदाय वन गया। परन्तु इस कल्पनामें कोई तथ्य नहीं है। साफ मालूम होता है कि यह एक भद्दी गढ़ंत है।

१२ श्वेताम्वर सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें शान्त्याचार्यके शिष्य जिनचन्द्रका कोई उल्लेख नहीं मिलता, जो कि दर्शनसारके कथानुसार इस सम्प्रदायका

प्रवर्तक था । इसके सिवाय यदि गोम्मटसारकी ' इंदो वि य संसइयो ' आदि गाथाका अर्थ वही माना जाय, जो टीकाकारोंने किया है, तो श्वेताम्बर सम्प्रदायका प्रवर्तक ' इन्द्र ' नामके आचार्यको समझना चाहिए । भद्रबाहुचरित्रके कर्त्ता इन दोनोंको न बतलाकर रामल्य स्थूलभद्रादिको इसका प्रवर्तक बतलाते हैं । उधर श्वेताम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें दिगम्बर सम्प्रदायका प्रवर्तक ' सहस्रमल्ल ' अथवा किसीके मतसे ' शिवभूति ' नामक साधु बतलाया गया है । पर दिगम्बर ग्रन्थोंमें न सहस्रमल्लका पता लगता है और न शिवभूतिका । क्या इसपरसे हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि इन दोनों सम्प्रदायोंकी उत्पत्तिका मूल किसीको भी मालूम न था । सबने पीछेसे ' कुछ लिखना चाहिए ' इसी लिए कुछ न कुछ लिख दिया है ।

१२ दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो भेद कब हुए, इसका इतिहास बहुत ही गहरे अँधेरेमें छुपा हुआ है—इसका पता लगाना बहुत ही आवश्यक है । अभीतक इस विषय पर बहुत ही कम प्रकाश पड़ा है । ज्यों ही इसके भीतर प्रवेश किया जाता है, त्यों ही तरह तरहकी शंकायें आकर मार्ग रोक लेती है । हमारे एक मित्र कहते हैं कि जहाँसे दिगम्बर और श्वेताम्बर गुर्वावलीमें भेद पडता है, वास्तवमें वहींसे इन दोनों संघोंका जुदा जुदा होना मानना चाहिए। भगवानके निर्वाणके बाद गोतमस्वामी, सुधर्मास्वामी और जम्बूस्वामी बस इन्हीं तीन केवलज्ञानियोंतक दोनों सम्प्रदायोंकी एकता है । इसके आगे जो श्रुतकेवली हुए है, वे दिगम्बर सम्प्रदायमें दूसरे हैं और श्वेताम्बरमें दूसरे । आगे भद्रबाहुको अवश्य ही दोनों मानते हैं । अर्थात् जम्बूस्वामीके बाद ही दोनों जुदा जुदा हो गये है । यदि ऐसा न होता तो भद्रबाहुके शिष्यतक, अथवा आगे चलकर वि० संवत् १३६ तक दोनोंकी गुरुपरम्परा एकसी होती । पर एक सी नहीं है । अतएव ये

दोनों ही समय सशंकित हैं। एक वात और है। श्वेताम्वर सम्प्रदायके आगम या सूत्रग्रन्थ वीरानिर्वाण संवत् ९८० (विक्रम सवत् ५१०) के लगभग वल्लभीपुरमें देवर्धिगणि क्षमाश्रमणकी अध्यक्षतामें संगृहीत होकर लिखे गये है और जितने दिगम्बर–श्वेताम्वर ग्रन्थ उपलब्ध हैं और जो निश्चयपूर्वक साम्प्रदायिक कहे जा सकते हैं वे प्रायः इस समयसे वहुत पहलेके नहीं है। अत एव यदि यह मान लिया जाय कि विक्रम संवत् ४१० के सौ पचास वर्ष पहले ही ये दोनो भेद सुनिश्चित और सुनियमित हुए होंगे तो हमारी समझमें असंगत न होगा। इसके पहले भी भेद रहा होगा; परन्तु वह स्पष्ट और सुशृंखलित न हुआ होगा। श्वेताम्वर जिन वातोंको मानते होंगे उनके लिए प्रमाण माँगे जाते होंगे और तव उन्हें आगमोंको साधुओंकी अस्पष्ट यादगारी परसे संग्रह करके लिपिवद्ध करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। इधर उक्त संग्रहमें सुशृंखलता प्रौढता आदिकी कमी, पूर्वापरविरोध और अपने विचारोंसे विरुद्ध कथन पाकर दिगम्बरोंने उनको माननेसे इनकार कर दिया होगा और अपने सिद्धान्तोंको स्वतंत्ररूपसे लिपिवद्ध करना निश्चित किया होगा। आशा है कि विद्वानोंका ध्यान इस और जायगा ओर वे निष्पक्ष दृष्टिसे इस श्वेताम्वर-दिगम्वर-सम्वन्धी प्रश्नका निर्णय करेंगे।

१४ सोलहवीं और सत्रहवीं गाथामें जिस विपरीत मतकी उत्पत्ति वतलाई है, उसकी पद्मपुराणोक्त* कथासे मालूम होता है कि वह व्राह्मणोंका वैदिक मत है, जो यज्ञमें पशुहिसा करनेमें धर्म समझता है। गोम्मटसारमें 'एयंत वुद्धदरंसी' आदि गाथामें विपरीत मतके

* क्षीरकदम्व उपाध्यायके पास राजपुत्र वसु, नारद और उनका पुत्र पर्वत ये तीनों पढ़ते थे। क्षीर कदम्व मुनि होकर तपस्या करने लगे। वसु राजा हो गया और राजकार्य करने लगा। पर्वत और नारदमें एक दिन

उदाहरणमें जो 'ब्रह्म' शब्द दिया है, उसका भी अर्थ 'ब्राह्मणमत' है। पद्मपुराणके अनुसार मुनिसुव्रत तीर्थंकरके और पर्वत आदिके समयको लाखों वर्ष हो गये। अत एव यह कथा यदि सच मानी जाय तो वैदिक धर्म जितना पुराना माना जाता है उससे भी बहुत पुराना सिद्ध हो जायगा। हमारी समझमें तो स्वयं वेदानुयायी ही अपने धर्मको इतना पुराना नहीं मानते हैं। जैन विद्वानोंके लिए यह सोचने विचारनेकी बात है।

१५ बीसवींसे तेईसवींतक चार गाथाओंमें अज्ञान मतका वर्णन है। इसके कर्त्ताका नाम 'मस्करिपूरन' नामक साधु बतलाया गया है, परन्तु बौद्ध ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि मस्करि–गोशाल और पूरन कश्यप ये दो भिन्न भिन्न व्यक्ति थे और दो जुदा जुदा मतोंके

'अजैर्यष्टव्यं' इस वाक्य पर विवाद हुआ। नारद इसका अर्थ करता था कि पुराने यवोंसे यजन करना चाहिए और पर्वत कहता था कि बकरोंसे। अर्थात् यज्ञमें पशुओंका आलभन करना चाहिए। दोनों अपने अपने अर्थको क्षीरकदम्बका बतलाया हुआ कहते थे। राजा वसु प्रसिद्ध सत्यवादी था। दोनोंने यह शर्त लगाई कि राजा वसु जिसके अर्थको सत्य अर्थात् क्षीरकदम्ब-के कथनानुसार बतलावे उसीकी जीत समझी जाय और जो हारे उसकी जिह्वा छेदी जाय। दूसरे दिन इसका निर्णय होनेवाला था कि पहली रातको पर्वतकी माताने अपने पुत्रका पक्ष असत्य समझकर उसकी जिह्वा काटी जानेके डरसे राजा वसु पर अनुचित दबाव डाला और उसे झूठ बोलने पर राजी कर लिया। दूसरे दिन सभामें राजा वसुने पर्वतके ही पक्षको सत्य बतलाया और इसका फल यह हुआ कि उसका सिंहासन लोगोंके देखते देखते जमीनके नीचे धँस गया। इसके बाद पर्वत अपने पक्षका समर्थन करता हुआ और यज्ञमें हिंसा करनेका उपदेश देता हुआ फिरने लगा। 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा,' आदि श्लोकका वह प्रचारक हुआ। आगे उसने राजा मरुतके द्वारा एक बड़ा भारी यज्ञ कराया जिसका विध्वंस रावणने जाकर किया।

प्रवर्तक थे। महापरिनिर्वाणसूत्र, महावग्ग, और दिव्यावदान आदि कई बौद्धग्रन्थोंमें बुद्ध देवके समसामयिक जिन छह तीर्थंकरोंका या मतप्रवर्तकोंका वर्णन मिलता है, ये दोनों भी उन्हींके अन्तर्गत हैं। पूरन कश्यपके विषयमें लिखा है कि यह एक म्लेच्छस्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। कश्यप इसका नाम था। इस जन्मसे पहले यह ९९ जन्म धारण कर चुका था। वर्तमान जन्ममें इसने शतजन्म पूर्ण किये थे, इस कारण इसको लोग 'पूरण-कश्यप' कहने लगे थे। इसके स्वामीने इसे द्वारपालका काम सौंपा था; परन्तु इसे वह पसन्द न आया और यह नगरसे भागकर एक वनमें रहने लगा। एक बार कुछ चोरोंने आकर इसके कपड़ेलत्ते छीन लिये, पर इसने कपड़ोंकी परवा न की, यह नग्न ही रहने लगा। उसके बाद यह अपनेको पूरण कश्यप बुद्धके नामसे प्रकट करने लगा और कहने लगा कि मैं सर्वज्ञ हूँ। एक दिन जब यह नगरमें गया, तो लोग इसे वस्त्र देने लगे, परन्तु इसने इंकार कर दिया और कहा-" वस्त्र लज्जानिवारणके लिए पहने जाते हैं और लज्जा पापका फल है। मै अर्हत् हूँ, मैं समस्त पापोंसे मुक्त हूँ, अतएव मै लज्जासे अतीत हूँ। " लोगोंने कश्यपकी उक्तिको ठीक मान लिया और उन्होंने उसकी यथाविधि पूजा की। उनमेंसे ५०० मनुष्य उसके शिष्य हो गये। सारे जम्बू द्वीपमें यह घोषित हो गया कि वह बुद्ध है और उसके बहुतसे शिष्य हैं; परन्तु बौद्ध कहते हैं कि वह 'अवीचि' नामक नरकका निवासी हुआ। सुत्तपिटकके दीर्घनिकाय नामक भागके अन्तर्गत 'सामञ्ञओ फलसुत्त' में लिखा है कि पूरण कश्यप कहता था-'असत्कर्म करनेसे कोई पाप नहीं होता और सत्कर्म करनेसे कोई पुण्य नहीं होता। किये हुए कर्मोंका फल भविष्यत्कालमें मिलता है, इसका कोई प्रमाण नहीं है।' मस्करि गोशालका वर्णन श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें विस्तारसे मिलता है। वे इसे मंखलि गोशाल कहते हैं। श्वेताम्बरसूत्र 'उवासकदसांग' के

मतसे वह श्रावस्तीके अन्तर्गत शरवणके समीप उत्पन्न हुआ था उसके पिताको लोग ‘ मंखलि ’ कहा करते थे। पिता अपने हाथके चित्र दिखलाकर अपनी जीविका चलाता था। माताका नाम ‘ भद्रा ’ था। एक दिन ये दोनों भ्रमण करते करते शरवणके निकट आये और कोई स्थान न मिलनेसे वर्षाके कारण एक ब्राह्मणकी गोशालामें जाकर ठहर गये। वहाँ भद्राने एक पुत्रको जन्म दिया और उसका नाम स्थानके नामके अनुसार गोशाला रक्खा गया। प्राप्तवयस्क होने पर गोशाला भिक्षावृत्तिसे अपना निर्वाह करने लगा। इसी समय भगवान् महावीरने भी ३० वर्षकी अवस्थामें जिन दीक्षा धारण की। ‘ मलिन्द-प्रश्न ’ नामक बौद्ध ग्रन्थमें लिखा है—“ सम्राट् मालिन्दने गोशालासे पूछा—“ अच्छे बुरे कर्म है या नहीं? अच्छे बुरे कर्मोंका फल भी मिलता है या नहीं?” गोशालाने उत्तर दिया—“ हे सम्राट्, अच्छे बुरे कर्म भी नहीं है और उनके फल भी कुछ नहीं हैं।” बौद्ध कथाओंके अनुसार मंखलि गोशाल पर उसका मालिक एक गलतीके कारण बहुत ही अप्रसन्न हुआ था। जब उसने भागनेकी चेष्टा की तब मालिकने जोरसे उसके वस्त्र खींच लिये और वह नंगा ही भाग गया। इसके बाद वह साधु हो गया और अपनेको ‘ बुद्ध ’ कहके प्रसिद्ध करने लगा। उसके हजारों शिष्य हो गये। बौद्ध कहते हैं कि वह मरकर अवीचि नगरमें गया। उसके मतसे समस्त प्राणी विनाकारण ही अच्छे बुरे होते है। संसारमें शक्तिसामर्थ्य आदि पदार्थ नहीं हैं। जीव अपने अदृष्टके प्रभावसे यहाँ वहाँ सचार करते हैं। उन्हें जो सुखदुःख भोगना पड़ते हैं, वे सब उनके अदृष्ट पर निर्भर हैं। १४ लाख प्रधान जन्म, ५०० प्रकारके सम्पूर्ण और असम्पूर्ण कर्म, ६२ प्रकारके जीवनपथ, ८ प्रकारकी जन्मकी तहें, ४९०० प्रकारके कर्म, ४९०० भ्रमण करनेवाले संन्यासी, ३ हजार नरक और ८४ लाख काल है। इन कालोंके भीतर पण्डित और मूर्ख

सबके कष्टोंका अन्त हो जाता है। ज्ञानी और पण्डित कर्मके हाथसे छुटकारा नहीं पा सकते। जन्मकी गतिसे सुख और दुःखका परिवर्तन होता है। उनमें ह्रास और वृद्धि होती है। सिंहलीभाषाके बौद्ध ग्रन्थोंके अनुसार इन दोनोंके अस्सी अस्सी हजार शिष्य थे। मखलि गोशालके मतका नाम "आजीवक" था। इस आजीवक मतका उल्लेख अशोकके शिलालेखोंमें भी है। उपर्युक्त उल्लेखोंसे मस्करि और पूरण ये दो जुदे जुदे मतप्रवर्तक ही मालूम होते हैं। मालूम नहीं, दर्शनसारके कर्त्ताने इन दोनोंको एक क्यों मान लिया। इनके जो सिद्धान्त बतलाये हैं उनका भी मेल बौद्धादि ग्रन्थोंसे नहीं खाता है। अनेक जन्मोंका धारण करना ये दोनों ही मतवाले मानते हैं; परन्तु दर्शनसारमें इनका सिद्धान्त बतलाया है—पुनरागमनं भ्रमणं भवे भवे नास्ति जीवस्य।

१६ आगे २४ वीं गाथासे ४३ वीं तक द्राविड, यापनीय, काष्ठासंघ और माथुरसंघ इन चार संघोंकी उत्पत्ति बतलाई है।

चारोंकी उत्पत्तिका समय इस प्रकार दिया है:—

द्राविड संघ	.. ५२६	विक्रममृत्युसंवत्।	
यापनीय संघ...	... ७०५	"	"
काष्ठासंघ ...	... . ७५३	"	"
माथुर संघ ...	... ... ९५३	"	"

अब यह देखना है कि उक्त समय कहाँतक ठीक हैं। सबसे पहले यह निश्चय करना चाहिए कि यह संवत् कौनसा है। बहुतोंका खयाल है कि वर्तमानमें जो विक्रम संवत् प्रचलित है, वह विक्रमके जन्मसे या राज्याभिषेकसे शुरू हुआ है; परन्तु हमारी समझमें यह मृत्युका ही संवत् है। इसके लिए एक प्रमाण लीजिए। सुभाषित-रत्नसंदोहकी प्रशस्तिमें अमितगतिने लिखा है:—

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे,
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके ।
समाप्तं पञ्चम्यामवति धरिणीं मुञ्जनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥

इसका अर्थ यह है कि विक्रमराजाके स्वर्गवास होनेके १०५० वर्ष बीतने पर राजा मुञ्जके राज्यमें यह शास्त्र समाप्त किया गया। इन्हीं अमितगतिने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ धर्मपरीक्षाके बननेका समय इस प्रकार लिखा है:—

संवत्सराणां विगते सहस्रे ससप्ततौ विक्रम पार्थिवस्य ।
इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं जैनेन्द्रधर्मामितयुक्तिशास्त्रम् ॥

अर्थात् विक्रमराजाके संवत्के १०७० वर्ष बीतने पर यह ग्रन्थ बनाया गया। इन दोनों श्लोकोंमें विक्रम संवत् ही बतलाया है, परन्तु पहलेमें 'विक्रमके स्वर्गवासका संवत्' और दूसरेमें 'विक्रमराजाका संवत्' इस तरह लिखा है और यह संभव नहीं कि एक ही ग्रन्थकर्त्ता अपने एक ग्रन्थमें तो मृत्युका संवत् लिखे और दूसरेमें जन्मका या राज्यका। और जब ये दोनों संवत् एक हैं, तब यह कहा जा सकता है कि विक्रमका संवत् या विक्रमसंवत् लिखनेसे भी उस समय विक्रमकी मृत्युके संवतका बोध होता था। अब रहा प्रश्न यह कि यदि उस समय जन्मका ही या राज्यका ही संवत् लिखा जाता रहा हो, केवल अमितगतिने ही मृत्युका संवत् लिखा हो, तो इसके विरुद्ध क्या प्रमाण है? प्रमाण यह है कि राजा मुञ्जका समय सुनिश्चित है। अनेक शिलालेखोंसे और दानपत्रोंसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि वे विक्रम संवत् १०३६ से १०७८ तक मालवदेशके राजा रहे है। १०३६ का उनका दानपत्र मिला है। उसके पहले भी वे कितने दिनोंतक राजा रहे, यह मालूम नहीं। १०७८ में कल्याणके राजा तैलिपदेवके द्वारा

उनकी मृत्यु हुई थी और इसी वर्ष भोजका राज्याभिषेक हुआ था। अमितगतिने सुभाषितरत्नसंदोहके बननेका समय १०५० दिया है और उस समय मुञ्ज राज्य कर रहे थे, ऐसा लिखा है । अब यदि इस १०५० संवतको हम जन्मका संवत् बनावें, तो इसमें विक्रमकी उम्र जो ८० वर्ष कही जाती है जोड़नी चाहिए । अर्थात् ११३० संवतके लगभग यह समय पहुँच जायगा; अथवा राज्याभिषेकका सवत् बनावें और अनुमानत अभिषेकके समयकी अवस्था २० वर्ष मान लें, और इसलिए (८०—२०=६०) साठ वर्ष जोड़ें तो १११० के लगभग पहुँच जायगा । परन्तु इस समयतक मुञ्जके रहनेका कोई प्रमाण नहीं है । मुंजके उत्तराधिकारी भोजकी मृत्यु सं० १११२ के पूर्व हो चुकी थी और १११५ में उदयादित्यको सिंहासन मिल चुका था। इससे सिद्ध है कि विक्रमका वर्तमान संवत् उसकी मृत्युका ही संवत् है और दर्शनसारमें जो सवत् दिया गया है उसको और प्रचलित विक्रम संवतको एक ही समझना चाहिए ।

इस विषयमें यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि संवत् एक स्मृतिका चिह्न या यादगार है । इसका चलना मृत्युके बाद ही संभव है ।जो बहुत प्रतापी और महान् होता है उसको ही साधारण जनता इस प्रकारके उपायोंसे अमर बनाती है । सर्व साधारणके द्वारा राज्याभिषेकका संवत् नहीं चल सकता । क्योंकि सिंहासन पर बैठते ही यह नहीं मालूम हो सकता कि यह राजा अच्छा होगा । कोई कोई राजा, लोग अवश्य ही अपने दानपत्रादिमें अपने राज्यका संवत् लिखा करते थे; परन्तु वह उन्हींके जीवन तक चलता था । इसी तरह जन्मका संवत् भी नहीं चल सकता। भगवान् महावीर, ईसा, मुहम्मद आदि सबके संवत् मृत्युके ही है ।

अब सब संघोके समयकी जाँच की जानी चाहिए । सबसे पहले

द्राविड संघको लीजिए । इसकी उत्पत्तिका समय है वि० संवत् ५२६।
इसका उत्पादक वतलाया गया है आचार्य पूज्यपादका शिष्य वज्र-
नन्दि । दक्षिण और कर्नाटकके प्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो० के. वी.
पाठकने किसी कनड़ी ग्रन्थके आधारसे मालूम किया है कि पूज्यपाद
स्वामी दुर्विनीत नामके राजाके समयमें हुए हैं । दुर्विनीत उनका शिष्य
था । दुर्विनीतने विक्रम संवत् ५३५ से ५७० तक राज्य किया है ।
वज्रनन्दि यद्यपि पूज्यपादका शिष्य था; फिर भी संभव है कि उसने
उन्हींके समयमें अपना संघ स्थापित कर लिया हो । ऐसी दशामें ५२६
के लगभग उसके द्वारा द्राविडसंघकी उत्पत्ति होना ठीक जान
पड़ता है ।

इसके बाद यापनीय संघके समयका विचार कीजिए । हमारे पास
जो तीन प्रतियाँ हैं, उनमेंसे दोके पाठोंसे तो इसकी उत्पत्तिका समय
वि० सं० ७०५ मालूम होता है और तीसरी ग प्रतिके पाठसे वि०
सं० २०५ ठहरता है । यद्यपि यह तीसरी प्रति बहुत ही अशुद्ध है,
परन्तु ७०५ से बहुत पहले यापनीय सघ हो चुका था, इस कारण
इसके पाठको ठीक मान लेनेको जी चाहता है । श्वेताम्बर सम्प्रदायमें
हरिभद्र नामके एक बहुत प्रसिद्ध आचार्य हो गये है । विक्रम संवत्
५८५ में उनका स्वर्गवास हुआ है और उन्होंने अपनी 'ललितविस्तरा
टीका' में यापनीय तंत्रका स्पष्ट उल्लेख किया है । (देखो सेठ देवचन्द
लालचन्द द्वारा प्रकाशित 'ललितविस्तरा' पृष्ठ १०९) इससे मालूम होता
है कि ५८५ से बहुत पहले यापनीय संघका प्रादुर्भाव हो चुका था ।
इसके सिवाय रायल एशियाटिक सुसाइटी बाम्बे ब्रेंचके जग्नल की
जिल्द १२ (सन् १८७६) में कदम्बवंशी राजाओंके तीन दानपत्र
प्रकाशित हुए है, जिनमेंसे तीसरेमें अश्वमेध यज्ञके करानेवाले महाराज
कृष्णवर्माके पुत्र देववर्माके द्वारा यापनीय संघके अधिपतिको मन्दिरके

लिए कुछ जमीन वगैरह दान की जानेका उल्लेख है। चेरा–दानपत्रोंमें भी इसी कृष्णवर्माका उल्लेख है और उसका समय वि० संवत् ५२३ के पहले है। अतएव ऐसी दशामें यापनीय संघकी उत्पत्तिका समय आठवीं नहीं किन्तु छट्ठी शताब्दिके पहले समझना चाहिए। आश्चर्य नहीं जो ग प्रतिका २०५ संवत् ही ठीक हो। दर्शनसारकी अन्य दो चार प्रतियोंके पाठ देखनेसे इसका निश्चय हो जायगा।

काष्ठासंघका समय विक्रम संवत् ७५३ बतलाया है, परन्तु यदि काष्ठासंघका स्थापक जिनसेनके सतीर्थ विनयसेनका शिष्य कुमारसेन ही है, जैसा कि ३०–३३ गाथाओंमें बतलाया है,तो अवश्य ही यह समय ठीक नहीं है। गुणभद्रस्वामीकी मृत्युके पश्चात् कुमारसेनने काष्ठासंघको स्थापित किया है और गुणभद्रस्वामीने महापुराण शक संवत् ८२० अर्थात् विक्रम संवत् ९५५ में समाप्त किया है। यदि इसी समय उनकी मृत्यु मान ली जाय, तो भी काष्ठासघकी उत्पत्ति विक्रम संवत् ९५५ के लगभग माननी चाहिए, पर दर्शनसारके कर्त्ता ७५३ बतलाते है। ऐसी दशामें या तो यह मानना चाहिए कि गुणभद्रस्वामीके समसामयिक कुमारसेनके सिवाय कोई दूसरे ही कुमारसेन रहे होंगे, जिनका समय ७५३ के लगभग होगा, और जिनके नामसाम्यके कारण विनयसेनके शिष्य कुमारसेनको दर्शनसारके कर्त्ताने काष्ठासंघका स्थापक समझ लिया होगा, और या काष्ठासंघकी उत्पत्तिका यह समय ही ठीक नही है।

अब रहा माथुरसंघ, सो इसे काष्ठासंघसे २०० वर्ष पीछे अर्थात् विक्रम संवत् ९५३ में हुआ बतलाया है; परन्तु इसमें सबसे बड़ा सन्देह तो यह है कि जब दर्शनसार संवत् ९०९ में बना है,जैसा कि इसकी ५० वीं गाथासे मालूम होता है तब उसमें आगे ४४ वर्ष बाद होनेवाले संघका उल्लेख कैसे किया गया। यदि यह कहा जाय कि दर्श-

नसारके वननेका जो संवत् है वह शक संवत् होगा, अर्थात् वह विक्रम संवत् १०४४ में वना होगा; परन्तु इसके विरुद्ध दो वातें कहीं जा सकती हैं। एक तो यह कि जव सारे ग्रन्थमें विक्रम संवत्का उल्लेख किया गया है, तव केवल अन्तकी गाथामें शक संवत् लिखा होगा, इस वातको माननेकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती, दूसरी यह कि धारानगरी मालवेमें हैं। मालवेका प्रधान संवत् विक्रम है। उस ओर शक संवतके लिखनेकी पद्धति नहीं है। इसके सिवाय ऐसा मालूम होता है कि माथुरसंघ सं० ९५३ से पहले ही स्थापित हो गया होगा। आचार्य अमितगति माथुर संघमें ही हुए हैं। उन्होंने विक्रम संवत् १०५० में 'सुभाषितरत्नसन्दोह' ग्रन्थ रचा है। उन्होंने अपनी जो गुरुपरम्परा दी है, वह इस प्रकार है– १ वीरसेन, २ देवसेन, ३ अमितगति (प्रथम), ४ नेमिषेण, ५ माधवसेन और ६ अमितगति। यदि यह माना जाय कि अमितगति १०५० के लगभग आचार्य हुए होंगे और उनसे पहलेके पाँच आचार्योंका समय केवल वीस ही वीस वर्ष मान लिया जाय, तो वीरसेन आचार्यका समय वि० संवत् ९५० के लगभग प्रारंभ होगा। परन्तु वीरसेन माथुरसघके पहले आचार्य नहीं थे। उसके पहले और भी कुछ आचार्य हुए होंगे। यदि रामसेन इनसे दो तीन पीढ़ी ही पहले हुए हों तो उनका समय विक्रमकी नवीं शताब्दिका उत्तरार्ध ठहरेगा। गरज यह कि काष्ठासंघ और माथुरसंघ इन दोनों ही संघोंकी उत्पत्तिके समयमें भूल है। इन सव संघोकी उत्पतिके समयकी संगति विठानेका हमने वहुत प्रयत्न किया, परिश्रम भी इस विषयमें खूव किया, परन्तु सफलता नहीं हुई।

१८ इन चार संघोंमेंसे इस समय केवल काष्ठासघका ही नाम मात्रको आस्तित्व रह गया है—क्योंकि इस समय भी एक दो भट्टारक ऐसे है जो चमरकी पिच्छी रखते है और अपनेको काष्ठासघी प्रकट करते हैं, शेष तीन संघोका सर्वथा लोप समझना चाहिए।

माथुरसंघको इस ग्रन्थमें जुदा बतलाया है, परन्तु कई जगह इसे काष्ठासंघकी ही एक शाखा माना है। इस संघकी चार शाखाओंमेंसे—जो नगरों या प्रान्तोंके नामसे है—यह भी एक है। यथाः—

काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ ॥ १
श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरो बागड़ाभिधः।
लाड़बागड़ इत्येते विख्याताः क्षितिमण्डले ॥ २
—सुरेन्द्रकीर्तिः।

अलग बतलानेका कारण यह मालूम होता है कि माथुरसंघमें साधुके लिए पिच्छि रखनेका विधान नहीं है और काष्ठासंघमें गोपुच्छकी पिच्छि रखते हैं। इसी कारण काष्ठासंघको 'गोपुच्छक' और माथुरसंघको 'निःपिच्छिक' भी कहते है। इन दोनोंमें और भी दो एक बातोंमें भेद होगा। काष्ठासंघका कोई भी यत्याचार या श्रावकाचार उपलब्ध नहीं है, इसलिए उसमें मूलसंघसे क्या अन्तर है, इसका निर्णय नहीं हो सकता; परन्तु माथुरसंघका अमितगति श्रावकाचार मिलता है। उससे तो मूलसंघके श्रावकाचारोंसे कोई ऐसा मतभेद नहीं है जिससे वह जैनाभास कहा जाय। जान पड़ता है केवल निःपिच्छिक होनेसे ही वह जैनाभास समझा गया है। काष्ठासंघके विशेष सिद्धान्त २५ वीं गाथामें बतलाये गये हैं; परन्तु उनमेंसे केवल दो ही स्पष्ट होते हैं—एक तो कड़े बालोंकी या गायकी पूछके बालोंकी पिच्छी रखना और दूसरा क्षुल्लक लोगोंको वीरचर्या अर्थात् स्वयं भ्रामरी वृत्तिसे भोजन करना। पं० आशाधरने क्षुल्लकोंके लिए इसका निषेध किया है। शेष दो बातें अस्पष्ट हैं, उनका अभिप्राय समझमें नहीं आता। एक तो 'इत्थीणं पुणदिक्खा' अर्थात् स्त्रियोंको पुनः दीक्षा देना और दूसरी यह कि 'छट्ठा गुणव्रत' मानना। गुणव्रत तो तीन ही माने गये हैं;

यदि यह कहा जाता कि चौथा गुणव्रत उसने और माना, तो ठीक भी होता, पर इसमें छठा गुणव्रत माननेको कहा है । क प्रतिकी टिप्पणीमें लिखा है कि रात्रिभोजनत्याग नामक छट्ठे व्रतका विधान किया, पर यह भी अस्पष्ट है । इसके सिवाय यह भी लिखा है कि कुमारसेनने आगम, शास्त्र, पुराण, प्रायश्चित्तादि ग्रन्थ जुदे वनाये और अन्यथा वनाये ।

द्राविड संघको ' द्रमिल संघ ' भी कहते है । पुन्नाट संघ भी शायद इसीका नामान्तर है । हरिवंशपुराणके कर्त्ता जिनसेन इसी पुन्नाट संघमें हुए हैं । नाट शब्दका अर्थ कर्णाट देश है, इस लिए ' पुंनाट ' का अर्थ द्रविड़ देश होगा, ऐसा जान पड़ता है । हरिवंशपुराणके प्रारंभमें पूज्यपादस्वामीके बाद वज्रनन्दिकी भी इस प्रकार स्तुति की गई है:—

वज्रसूरेर्विचारण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः ।
प्रमाणां धर्मशास्त्राणां प्रवक्तृणामिवोक्तयः ॥ ३२ ॥

इसमें आचार्य वज्रनन्दिके किसी ग्रन्थको जिसमें बन्धमोक्षका सहेतुक वर्णन है, धर्मशास्त्रोंके वक्ता गणधरोंकी वाणीके समान प्रमाणभूत माना है । ये वज्रनन्दि पूज्यपादके ही शिष्य है जिन्हें देवसेनसूरिने द्राविड संघका उत्पादक वतलाया है । हरिवंशके कर्ता उन्हें गणधरके समान प्रमाणभूत मानते हैं, इसीसे मालूम होता है कि वे स्वय द्राविड संघी थे । त्रैविद्यविश्वेश्वर श्रीपालदेव, वैयाकरण दयापाल, मतिसागर, स्याद्वादविद्यापति वादिराजसूरि आदि बड़े बड़े विद्वान् इस संघमें हुए है । हरिवंशपुराणके कर्ताने अपने पूर्वके आचार्योंकी एक लम्बी नामावली दी है जिसमें कई बड़े बड़े विद्वान् जान पड़ते हैं । इस संघमें भी कई गण और गच्छ हैं । ' नन्दि ' नामक अन्वयका, ' अरुङ्गल, ' ' एरेगित्तर ' इन दो गणोंका और ' मूलितल ' नामक गच्छका यत्र

तत्र उल्लेख मिलता है। मूलसंघके साथ इसका किन किन वातोंमें विरोध है, इसका उल्लेख २७-२८ गाथाओंमें किया गया है। परन्तु इस संघके आचारसम्बन्धी ग्रन्थोंका परिचय न होनेसे कई वातोंका अर्थ स्पष्ट समझमें नहीं आता। ग्रन्थकर्ताने उन्हें कहा भी वहुत अस्पष्ट शब्दोंमें है। लिखा है वह वीजोंमें जीव नहीं मानता और यह भी लिखा है कि वह प्रासुक नहीं मानता। वीजोंमें जीव नहीं मानता, इसका अर्थ ही यह है कि वह वीजोंको प्रासुक मानता है। वह सावद्य भी नहीं मानता। सावद्यका अर्थ पाप होता है, पर 'पाप' कुछ होता ही नहीं है, ऐसा कोई जैनसंघ नहीं मान सकता। गृहकल्पित अर्थको नहीं गिनता, इसका अभिप्राय वहुत ही अस्पष्ट है।

२५ वीं गाथामें यापनीय संघका उल्लेख मात्र है, परन्तु उसके सिद्धान्त वगैरह विलकुल नहीं वतलाये है। जान पड़ता है कि ग्रन्थकर्ताको इस संघके सिद्धान्तोंका परिचय नहीं था। श्वेताम्वरसम्प्रदायमें श्रीकलश नामके आचार्य कोई हुए हैं या नहीं, जिन्होंने यापनीय सघकी स्थापना की, पता नहीं लगा। अन्य ग्रन्थोंसे पता चलता है कि इस संघके साधु नग्न रहत थे, परन्तु दिगम्वर सम्प्रदायको जो दो वातें मान्य नहीं हैं एक तो स्त्रीमुक्ति और दूसरी केवलिभुक्ति, उन्हें यह मानता था। श्वेताम्वर सम्प्रदायके आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति, आदि ग्रन्थोंको भी शायद वह मानता था, ऐसा शाकटायनकी अमोघवृत्तिके कुछ उदाहरणोंसे मालूम होता है। आचार्य शाकटायन या पाल्यकीर्ति इसी संघके आचार्य थे। उन्होंने 'स्त्रीमुक्ति-केवलिभुक्तिसिद्धि' नामका एक ग्रन्थ वनाया था, जो अभी पाटणके एक भाण्डारमें उपलब्ध हुआ है। यापनीयको 'गोप्य' संघ भी कहते हैं। आचार्य हरिभद्रकृत षट्दर्शनसमुच्चयकी गुणर-

त्नकृत टीकाके चौथे अध्यायके प्रारभमें दिगम्बर सम्प्रदायके (द्रविड संघको छोड़कर) संघोंका इस प्रकार परिचय दिया है:—

“ दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च । ते चतुर्धा, काष्ठासंघ-मूलसंघमाथुरसंघ-गोप्यसंघभेदात् । काष्ठासंघे चमरीबालैः पिच्छिका, मूलसंघे मायूरपिच्छै· पिच्छिका, माथुरसंघे मूलतोऽपि पिच्छिका नाहताः, गोप्या मयूरपिच्छिकाः। आद्यास्त्रयोऽपि संघा वन्द्यमाना धर्मवृद्धिं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं सद्व्रतस्यापि सचीवरस्य मुक्तिं च न मन्वते । गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति। स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं च मन्यन्ते । गोप्या यापनीय इत्यप्युच्यन्ते । सर्वेपां च भिक्षाटने भोजने च द्वात्रिंशदन्तराया मलाश्च चतुर्दश वर्जनीयाः । शेपमाचारे गुरौ च देवे च सर्वं श्वेताम्बरैस्तुल्यम् । नास्ति तेपां मिथः शास्त्रेपु तर्केपु परो भेदः । ”

अर्थात् “ दिगम्बर नग्न रहते है और हाथमें भोजन करते है। इनके चार भेद है । काष्ठासंघ, मूलसघ, माथुर, गोप्य । इनमेंसे काष्ठासंघके साधु चमरीके बालोंकी और मूलसंघ तथा यापनीय संघके साधु मोरके पंखोंकी पिच्छिका रखते हैं; पर माथुरसंघके साधु पिच्छिका बिलकुल ही नहीं रखते है। पहले तीन वन्दना करनेवालेको ‘ धर्मवृद्धि ’ देते है और स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति , तथा वस्त्रसंहित मुनिको मुक्ति नहीं मानते हैं। गोप्यसंघवाले ‘धर्मलाभ’ कहते हैं और स्त्रीमुक्ति केवलिभुक्तिको मानते है । गोप्य संघको यापनीय भी कहते है । चारों ही संघके साधु भिक्षाटनमें और भोजनमें ३२ अन्तराय और १४ मलोंको टालते हैं। इसके सिवाय शेष आचारमें तथा देवगुरुके विषयमें ये सब श्वेताम्बरोंके ही तुल्य हैं। उनमें शास्त्रमें और तर्कमें

परस्पर और कोई भेद नहीं है।" इस उल्लेखसे यापनीय संघके विषयमें कई वातें मालूम हो जाती हैं और दूसरे संघोंमें भी जो भेद हैं उनका पता लग जाता है।

इस विषयमें हम इतना और कह देना चाहते है कि यापनीयको छोड़कर शेष तीन संघोंका मूल संघसे इतना पार्थक्य नहीं है कि वे जैनाभास वतला दिये जायँ, अथवा उनके प्रवर्तकोंको दुष्ट, महामोह, जैसे विशेषण दिये जायँ। ग्रन्थकर्त्ताने इस विषयमें वहुत ही अनुदारता प्रकट की है।

१८ गाथा ४३ वीं से मालूम होता है कि कुंदकुंदस्वामीके विषयमें जो यह किवदन्ती प्रसिद्ध है कि वे विदेहक्षेत्रको गये थे और वहाँके वर्तमान तीर्थंकर सीमंधर स्वामीके समवसरणमें जाकर उन्होंने अपनी शंकाओंका समाधान किया था सो विक्रमकी नौवीं दशवीं शताब्दिमें भी सत्य मानी जाती थी। अर्थात् यह किंवदन्ती वहुत पुरानी है। इसीकी देखादेखी लोगोंने पूज्यपादके विषयमें भी एक ऐसी ही कथा गढ़ ली है।

१९ गाथा ४५-४६ में ग्रन्थकर्त्ताने एक भविष्यद्वाणी की है। कहा है कि विक्रमके १८०० वर्ष वीतने पर श्रवणवेलगुलके पासके एक गाँवमें वीरचन्द्र नामका मुनि भिल्लक नामके संघको चलायगा। मालूम नहीं, इस भविष्यद्वाणीका आधार क्या है। कमसे भगवानकी कही हुई तो यह मालूम नहीं होती। क्योंकि इस घटनाके समयको वीते १७४ वर्ष वीत चुके, पर न तो कोई इस प्रकारका वीरचन्द्र नामका साधु हुआ और न उसने कोई संघ ही चलाया। ग्रंथकर्त्ताकी यह खुदकी ही 'ईजाद' मालूम होती है। हमारी समझमें इसमें कोई तथ्य नहीं है। इस प्रकारकी भविष्यद्वाणियों पर विश्वास करनेके

अव दिन नहीं रहे। अन्य किसी प्रामाणिक ग्रंथमें भी इस संघके होनेका उल्लेख नहीं पाया जाता।

२० आगे ४८ वीं गाथामें भी एक भविष्यद्वाणी कही है। पंचमकालके अंतमें वीरागज नामका एक मूलगुणोंका धारण करनेवाला मुनि होगा जो भगवान् महावीरके समान लोगोंको उपदेश देगा। त्रैलोक्यसारमें भी इस वातका उल्लेख किया है। यथाः—

इदि पडिसहस्सवस्सं वीसे कक्कीण दिक्कमे चरिमो।
जलमंथणो भविस्सदि कक्की सम्मगमंथणओ॥ ८४७॥
इह इंदरायसिस्सो वीरंगदसाहु चरिम सव्वासिरी।
अज्जा अग्गिल सावय वर साविय पंगुसेणावि॥ ८४८॥
पंचमचरिमे पक्खउ मास तिवासावसेसए तेण।
मुणि पढमपिंडगहणे संणसणं करिय दिवस तियं॥८४९॥
सोहंम्मे जायंते कतिय अमावासि सादि पुव्वण्हे।
इगि जलहि ठिदी मुणिणो सेसतिये साहियं पल्लं॥ ८५०॥
तव्वासरस्स आदी मज्झंते धम्म-राय-अग्गीणं।
णासो तत्तो मणुसा णग्गा मच्छादिआहारा॥ ८५१॥

अर्थ—“ इस तरह प्रत्येक सहस्र वर्षमें एक एकके हिसावसे वीस कल्कि होंगे। १९ कल्कि हो चुकने पर (पंचमकालके अन्तमें) ‘ जलमंथन ’ नामका अन्तिम कल्कि सन्मार्गको मंथन करने वाला होगा। उस समय इन्द्रराजके शिष्य वीरांगज नामके मुनि, सर्वश्री नामकी अर्जिका, अर्गल नामका श्रावक और पंगुसेना नामकी श्राविका ये चार जीव जैनधर्मके धारण करनेवाले वचेंगे। पंचमकालके अन्तिम महीनेके अन्तिम पक्षमें जब तीन दिन वाकी रह जायँगे, तब मुनि श्रावकके यहाँ भोजन करने जायँगे और ज्यों ही पहला कौर लेंगे,

त्योंही कल्कि उसको छीन लेगा। इससे वे तीन दिनका संन्यास धारण करके कार्तिककी अमावास्याके पहले प्रहरके प्रारंभमें मृत्युको प्राप्त होकर सौधर्म स्वर्गमें एक सागर आयुवाले देव होंगे। आर्यिका, श्राविका और श्रावक भी सौधर्म स्वर्गमें कुछ अधिक एक पल्यकी आयु पावेंगे। इसके वाद उसी दिनके आदिमें, मध्यमे और अन्तमें क्रमसे धर्मका, राजाका और अग्निका नाश हो जायगा और लोग नंगे तथा कच्ची मछली आदिके खानेवाले हो जायँगे।" मालूम नहीं, इस भविष्यद्वाणीमें सत्यका अंश कितना है। आजकलकी श्रद्धाहीन बुद्धिमें ऐसी बातें नहीं आ सकतीं कि अग्नि जैसे पदार्थका भी संसारमेंसे या किसी क्षेत्रमेंसे अभाव हो सकता है। पर इन बातों पर विचार करनेका यह स्थल नहीं है।

इस ग्रन्थके सम्पादनमें और विवेचन लिखनेमें शक्तिभर परिश्रम किया गया है, फिर भी साधनोंके अभावसे इसमें अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं। प्रमादवश भी इसमें अनेक दोष रह गये होंगे। उन सबके लिए मैं पाठकोंसे क्षमा चाहता हुआ इस विवेचनाको समाप्त करता हूँ। यदि कोई सज्जन इसकी त्रुटियोंके सम्बन्धमें सूचनायें भेजेंगे, तो मैं उनका बहुत ही कृतज्ञ होऊँगा।

चन्दावाडी, बम्बई.
श्रावण शुक्ल ४ सं० १९७४ वि० } नाथूराम प्रेमी।

हैं। स्नेह विना मद्य के ही अचेतन करदेता है, महा अनर्थ का स्थान है। निद्रा आत्मा के चेतनपने का घात कर आत्मा को जड़ अचेतन बनादेती है। तृषा वश उस पानी के पीने को भी जी चाहता है जो पीने के योग्य नहीं है। क्षुधा वश जीव चांडाल के घर में भी प्रवेश करके याचना करने लगता है, कुल मर्यादा को भुलादेता है। पांचों इन्द्रियां जीव के संयमादि को नष्ट करके अपने अपने विषय की ओर खींचती हैं और नीच प्रवृत्ति कराती हैं। मन भी चंचल वानर की समान स्वच्छंद विषय कषाय में भ्रमता है। शरीर के अन्य अंगों का भी यही हाल है। असत्य भाषण से अपनी चतुराई प्रगट करता है। हाथ हिंसा के आरम्भ करने के मुख्य उपकरण हैं। पैर भी पाप मार्ग में बड़ी तेज़ी से दौड़ते हैं। भावार्थ सम्पूर्ण सामग्री आत्मा के स्वभाव को नष्ट करने वाली हैं। इन से महान कर्म का आस्रव होता है। विवेकी पुरुषों को उचित है कि इन्द्रिय विषय कषायों को यथा शक्ति मंद करें तथा मन वचन काय की क्रिया को रोकें। मन वचन काय की क्रिया से नित्य आस्रव होता रहता है। जिस प्रकार समुद्र में छिद्रों द्वारा जहाज़ में पानी आजाता है उसी प्रकार जीव रूपी जहाज़ के योग रूप छिद्र हैं जिनके द्वारा यह कर्म रूपी जल को गृहण करता है।

विवेचनाका परिशिष्ट।

पिछले पृष्ठोंके मुद्रित हो चुकनेके वाद इस ग्रन्थके सम्वन्धमें हमें और भी कुछ वातें ऐसी मालूम हुई हैं, जिनका प्रकाशित कर देना उचित जान पड़ता है।

१ इस ग्रन्थकी तेईसवी गाथामें 'णिच्चणिगोयं पत्ता' आदि वाक्यसे यह प्रकट किया गया है कि मस्करिपूरण नामका साधु नित्य-निगोदको प्राप्त हुआ। तीनों प्रतियोंका पाठ इस विषयमें विलकुल एक सा है। परन्तु वास्तवमें यह कथन सिद्धान्तविरुद्ध है। नित्यनिगोद उस पर्यायका नाम है, जिसे छोड़कर किसी जीवने अनादिकालसे कभी कोई दूसरी पर्याय न पाई हो, अर्थात् जो व्यवहारराशि पर कभी चढ़ा ही न हो। इस लिए जो जीव नित्य-निगोदसे निकलकर मनुष्यादि पर्याय धारण कर लेते हैं वे 'इतर निगोद' में जाते है, नित्यनिगोदमें नहीं जा सकते। ऐसी दशामें मस्करीका नित्यनिगोदमें जाना सर्वथा असंभव हे। जान पड़ता है, मस्करीको महान् पापी वतलानेकी धुनमें ग्रन्थकर्ता इस सिद्धान्तका खयाल ही नहीं रख सके।

२ तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय ८, सूत्र १, वार्तिक २८ में एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और आज्ञानिक ये पॉच मिथ्यात्व वतलाकर विपरीत मतका स्वरूप इस प्रकार वतलाया है-'**सग्रन्थो निर्ग्रन्थः केवली कवलाहारी स्त्री सिद्ध्यतीत्येवमादिर्विपर्ययः।**' अर्थात् सग्रन्थ साधुओंको निर्ग्रन्थ, केवलीको कवलाहार और स्त्रीको मुक्ति इत्यादि वातें मानना विपरीत मत है। और संशय मतका स्वरूप यह है-'**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः किं स्याद्वा नवेति मतिद्वैतं संशयः।**' अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता

मोक्षमार्ग है या नहीं, इस प्रकारकी चलबुद्धि रखना संशय है। पूज्य पादस्वामी सर्वार्थसिद्धिमें भी यही लक्षण करते हैं। इससे दर्शनसारमें और गोम्मटसारकी टीकामें जो श्वेताम्बरोंको सांशयिक कहा है सो ठीक नहीं है। वास्तवमें उनकी गणना विपरीतमतमें हो सकती है। यह शंका हमने विवेचनाके ५ वें नम्बरमें की थी कि श्वेताम्बर सांशयिक नहीं हो सकते । राजवार्तिकके अनुसार हमारी वह शंका ठीक निकली।

२ राजवार्तिक अध्याय ८, सूत्र १, वार्तिक १२ में वसिष्ठ, पराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, व्यास, रोमहर्षि, सत्यदत्त आदिको वैनयिक बतलाया है। लक्षण दिया है–' **सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकत्वम्** । ' अर्थात् सब देवोंको और सब मतोंको समान दृष्टिसे देखना वैनयिक मिथ्यात्व है। इस वैनयिक मिथ्यात्वका स्वरूप * भावसंग्रहमें इस प्रकार बतलाया है:—

वेणइयमिच्छादिट्ठी हवइ फुडं तावसो हु अण्णाणी ।
निग्गुणजणं पि विणओ पउज्जमाणो हु गयविवेओ ॥ ८८ ॥
विणयादो इह मोक्खं किज्जइ पुणु तेण गद्दहाईणं ।
अमुणिय गुणागुणेण य विणयं मिच्छत्तनडिएण ॥ ८९ ॥

अभिप्राय यह है कि इस मतके अनुयायी विनय करनेसे मोक्ष मानते हैं । गुण और अवगुणसे उन्हें कोई मतलब नहीं । सबके

*यह ग्रन्थ हमें हालहीमे जयपुरके एक सज्जनकी कृपासे प्राप्त हुआ है। इसकी एक प्रति दक्खन कालेज पूनाके पुस्तकालयमे भी यह है। छोटासा प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। इसकी श्लोकसंख्या ७७० है। जयपुरकी प्रतिके लिखे जानेका समय पुस्तकके अन्तमे ' ज्येष्ठ सुदि १२ शुक्र संवत् १५५८ ' दिया हुआ है। इसके रचयिता विमलसेन गणिके शिष्य देवसेन हैं । दर्शनसारके कर्त्ता देवसेन और ये एक ही हैं, ऐसा इस ग्रन्थकी रचनाशैलीसे और इसके भीतर जो श्वेताम्बरादि मतोंका स्वरूप दिया है, उससे मालूम होता है।

प्रति—यहाँ तक कि गधे जैसे नीच जीवके प्रति—भी प्रणाम नमस्कार करना उनका धर्म है। यह विवेकरहित तपस्वियोंका मत है।

४ भावसंग्रहमें मस्करिपूरणका कुछ अधिक परिचय दिया है। परिचयकी गाथायें ये हैं:—

मसयरि-पूरणरिसिणो उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि।
सिरिवीरसमवसरणे अगहियझुणिणा नियत्तेण ॥ १७६ ॥
वहिणिग्गएण उत्तं मज्झं एयारसांगधारिस्स।
णिग्गइ झुणी ण, अरुहो णिग्गय विस्सास सीसस्स ॥ १७७॥
ण मुणइ जिणकहियसुयं संपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ।
विप्पो वेयब्भासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ ॥ १७८ ॥
अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो हु।
देवो अ णत्थि कोई सुण्णं झाएह इच्छाए ॥ १७९ ॥

इनमेंसे १७८ वीं गाथाका अर्थ ठीक नहीं वैठता। ऐसा मालूम होता है कि, वीचमें एकाध गाथा छूट गई है। भावार्थ यह है कि, पार्श्वनाथके तीर्थमें मस्करि-पूरण ऋषि उत्पन्न हुआ। वीर भगवान्की समवसरणसभासे जव वह उनकी दिव्य ध्वनिको ग्रहण किये विना ही लौट आया, वाणीको धारण करनेवाले योग्यपात्रके अभावसे जव भगवान्की वाणी नहीं खिरी, तव उसने वाहर निकल कर कहा कि मैं ग्यारह अंगका ज्ञाता हूँ, तो भी दिव्य ध्वनि नही हुई। पर जो जिनकथित श्रुतको ही नहीं मानता है, जिसने अभी हाल ही दीक्षा ग्रहण की है ओर वेदोंका अभ्यास करनेवाला व्राह्मण है वह गोतम (इन्द्रभूति) इसके लिए योग्य समझा गया। अतः जान पड़ता है कि ज्ञानसे मोक्ष नही होता है। वह लोगों पर यह प्रकट करने लगा कि अज्ञानसे ही मोक्ष होता है। देव या ईश्वर कोई है ही नहीं। अतः स्वेच्छापूर्वक शून्यका ध्यान करना चाहिए।

भट्टारक लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य पं० वामदेवके बनाये हुए संस्कृत भावसंग्रहके भी हमें इसी समय दर्शन हुए* । यद्यपि पं० वामदेवने इस बातका कहीं उल्लेख नहीं किया है; परन्तु मिलान करनेसे मालूम हुआ कि उन्होंने प्राकृत भावसंग्रहका ही न्यूनाधिकरूपमें अनुवाद करके अपना यह ग्रन्थ बनाया है । मस्करिपूरणके सम्बन्धमें उन्होंने नीचे लिखे ५ श्लोक लिखे हैं । इनसे पूर्वोक्त गाथाओंका अभिप्राय अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है ।

..................वीरनाथस्य संसदि ॥ १८५ ॥
जिनेन्द्रस्य ध्वनिर्ग्राहिभाजनाभावतस्ततः ।
शक्रेणात्र समानीतो ब्राह्मणो गौतमाभिधः ॥ १८६ ॥
सद्यः स दीक्षितस्तत्र सध्वनेः पात्रतां ययौ ।
ततः देवसभां त्यक्त्वा निर्ययौ मस्करीमुनिः ॥ १८७ ॥
सन्त्यस्मदादयोऽप्यत्र मुनयः श्रुतधारिणः ।
तांस्त्यक्त्वा सध्वनेः पात्रमज्ञानी गौतमोऽभवत् ॥ १८८ ॥
संचिन्त्यैवं क्रुधा तेन दुर्विदग्धेन जल्पितम् ।
मिथ्यात्वकर्मणः पाकादज्ञानत्वं हि देहिनाम् ॥ १८९ ॥
हेयोपादेयविज्ञानं देहिनां नास्ति जातुचित् ।
तस्मादज्ञानतो मोक्ष इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥ १९० ॥

अर्थात्—वीरनाथ भगवान्के समवसरणमें जब योग्य पात्रके अभावमें दिव्यध्वनि निर्गत नहीं हुई, तब इन्द्र गौतम नामक ब्राह्मणको ले आये । वह उसी समय दीक्षित हुआ और दिव्यध्वनिको धारण करनेकी उसी समय उसमें पात्रता आ गई, इससे मस्करिपूरण मुनि सभाको छोड़कर बाहर चला आया । यहाँ मेरे जैसे

* इसकी एक हस्तलिखित प्रति श्रीयुत पं० उदयलालजी काशलीवालके पास मौजूद है । ग्रन्थकर्त्ताने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—विनयचन्द्र-त्रैलोक्यकीर्ति-लक्ष्मीचन्द्र और वामदेव । ग्रन्थके रचनेका समय नहीं दिया ।

अनेक श्रुतधारी मुनि है, उन्हें छोड़कर दिव्यध्वनिका पात्र अज्ञानी गोतम हो गया, यह सोचकर उसे क्रोध आगया । मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जीवधारियोंको अज्ञान होता है। उसने कहा देहियोंको हेयोपादेयका विज्ञान कभी हो ही नहीं सकता । अत एव शास्त्रका निश्चय है कि अज्ञानसे मोक्ष होता है।

दर्शनसारकी वचनिकामें + मस्करिपूरणके सम्वन्धमें नीचे लिखे दो श्लोक उद्धृत किये गये है; पर यह नहीं लिखा कि ये किस ग्रन्थसे लिये गये हैं। कुछ अशुद्ध और अस्पष्ट भी जान पड़ते हैं:-

पूर्वस्यां वामनेनैव मदनेन च दक्षिणे ।
पश्चिमस्यां मुसंडेन कुलकेनोत्तरेऽपि तत् ॥
मस्कपूरणमासाद्य चत्वारोऽपि दिवानिशम् ।
अज्ञानमतमासाद्य (?) लोकाञ्शुभ्रगतामय (?) ॥

अर्थात् पूर्वदिशामें वामनने, दक्षिणमें मदनने, पश्चिममें मुसण्डने और उत्तरमें कुलकने मस्क-पूरणके अज्ञान मतका प्रचार किया और

+ वाम्बे रायल एशियाटिक सुसाइटीकी रिपोर्टमें डा० पिटर्सनने 'दर्शनसार वचनिका' का एक जगह हवाला दिया है और लिखा है कि यह ग्रन्थ जयपुरमें है। तदनुसार हमने इसकी खोज करनी शुरू की और हमें जयपुरसे तो नहीं; परन्तु देववन्दसे श्रीयुत वावू जुगलकिशोरजीके द्वारा इसकी एक प्रति प्राप्त हो गई। इसके कर्त्ता पं० शिवजीलालजी हैं। माघ सुदी १० सं० १९३३ को सवाई जयपुरमे यह वनकर समाप्त हुई है। इसकी श्लोकसंख्या लगभग ३५०० और पत्र १६२ हैं। इसमे गाथाओंका अर्थ तो वहुत ही संक्षेपमें लिखा है, संस्कृत छाया भी नहीं दी है; परन्तु प्रत्येक धर्मका सिद्धान्त और उसका खण्डन खूव विस्तारसे दिया है। मूल गाथाओंमें जिन मतोंका उल्लेख है, उनके सिवाय मुसल्मान और ईसाई मतोंके विषयमे भी वहुत कुछ लिखा है। वहुतसे मतोंके विषयमें आपने वड़ी गहरी भूलें की हैं। जैसे मस्करिपूरणको मुसलमान धर्मका मूल मान लेना और यापनीय सघको मूर्तिपूजाविरोधी लोंकागच्छ समझ लेना।

लोगोंको भ्रष्ट किया । वचनिकाकारका कथन है कि ये नागा राजा थे ।

५ द्राविड संघके विषयमें दर्शनसारकी वचनिकाके कर्त्ता एक जगह जिनसंहिताका प्रमाण देते हुए कहते हैं कि ' सभूषणं सवस्त्रं स्यात बिम्ब द्राविडसंघजम् '–द्रविड़ संघकी प्रतिमायें वस्त्र और आभूषणसहित होती हैं। लिखा है–" जो बिम्ब गहणा पहरयो होय तथा अर्ध पल्यकासन निर्ग्रन्थ हो है सो द्राविड संघका है। " आगे किसी ग्रन्थसे नीचे लिखे दोहे उद्धृत किये हैं –

तैल पान प्रासुक कहैं, लवण स्नान है निन्द्य ।
भातनको यह (?) धौतजल, सदा पान अनवद्य ॥ १ ॥
सिंहासन छत्रत्रयी, आसन अर्ध पल्यंक ।
पंचफणी प्रतिमा जहाँ, द्राविड संघ सवंक ॥ २ ॥
उत्तरीय अरु अंशु अध, उज्ज्वल दोय पुनीत ।
कमलमाल पद्मासनी, द्राविडजती सुमीत ॥ ३ ॥
रुद्राक्षस्रक्कण्ठधर, मानस्तंभविशेप ।
दक्षिण द्राविड जानिये, धर्मचक्र भुजशेप ॥ ४ ॥
पंच द्राविड मान ये, तिलक मान (?) रुद्राक्ष ।
माल भस्म माले जपै, त्रिकसूत्री कोपीन (?) ॥ ५ ॥
उत्तर द्राविड जानिये, काल चतुर्थज भेक ।
पंचमके दो भेद जुत, कल्प अकल्प अनेक ॥ ६ ॥

दूसरे दोहेमें द्राविड संघकी प्रतिमाका स्वरूप यह बतलाया है कि, वह अर्धपल्यंकासन होती है, उसके मस्तक पर सर्पके पाँच फण होते है, वह सिंहासन पर स्थित होती है और तीन छत्र उसके ऊपर रहते है । इसमें यह नहीं कहा है कि, वह वस्त्र और आभूषणोंसे युक्त होती है। पर जिनसंहिताका उक्त श्लोकार्ध द्राविड प्रतिमाको वस्त्राभूषणसहित बतलाता है। मालूम नहीं, यह जिनसंहिता किसकी बनाई

हुई है और कहाँ तक प्रामाणिक है। अभी तक हमें इस विषयमें बहुत सन्देह है कि, द्राविड संघ सग्रन्थ प्रतिमाओंका पूजक होगा।

उक्त छह दोहे भी मालूम नहीं किस ग्रन्थके है। वचनिकाकारने इन्हें कहींसे उठाकर रख दिया है, पर यह नहीं लिखा कि इनका रचयिता कौन है। अन्तके चार श्लोकोंमें द्राविड संघके यतियोंका वेश बतलाया है और उनके कई भेद किये है, परन्तु दोहोंकी रचना इतनी अस्पष्ट है, और प्रतिके लेखकने भी उन्हें कुछ ऐसा अस्पष्ट कर दिया है, कि उनका पूरा पूरा अभिप्राय समझमें नहीं आता। इतना मालूम होता है कि इस संघके यति वस्त्र पहनते थे, माला आदि धारण करते थे और तिलक भी लगाते थे।

वचनिकाके कर्त्ताने लिखा है कि १ पंचोपाख्यान, २ सप्ताशीति, और ३ सिद्धान्तशिरोमणि ये तीन ग्रन्थ द्राविड संघके है। संभव है कि इन ग्रन्थोंकी प्राप्ति जयपुरके किसी भण्डारसे हो जाय। यदि ये मिल जायँ, तो इस संघके विषयमे हमारी जो गाढ़ अज्ञानता है, वह अनेक अंशोंमें विरल हो सकती है।

६ श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्तिका इतिहास देवसेनसूरिकृत भावसंग्रहमें इस प्रकार दिया है.—

छत्तीसे वरिस सए विक्कमरायस्समरणपत्तस्स।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसंघो हु वलहीए॥ ५२॥
आसि उज्जेणिणयरे, आयरिओ भद्दबाहुणामेण।
जाणिय सुणिमित्तधरो, भणिओ संघो णिओ तेण॥ ५३॥
होहइ इह दुब्भिक्खं, बारह वरसाणि जाव पुण्णाणि।
देसंतराय गच्छह, णियणियसंघेण संजुत्ता॥ ५४॥
सोऊण इयं वयणं, णाणादेसेहिं गणहरा सव्वे।
णियणियसंघपउत्ता, विहरीआ जच्छ सुब्भिक्खं॥ ५५॥

एक्क पुण संति णामो, संपत्तो वलहि णाम णयरीए ।
वहुसीस संपउत्तो, विसए सोरट्ठए रम्मे ॥ ५६ ॥
तत्थ विगयस्स जायं, दुब्भिक्खं दारुणं महाघोरं ।
जत्थ वियारिय उयरं, खद्धो रंकेहि कूरुत्ति ॥ ५७ ॥
तं लहिऊण णिमित्तं, गहियं सव्वेहि कंवलीदंडं ।
दुद्धिय पत्तं च तहा, पावरणं सेयवत्थं च ॥ ५८ ॥
चत्तं रिसिआयरणं, गहिया भिक्खाय दीणवित्तीए ।
उववि सिय जाइऊणं, भुत्तं वसहीसु इच्छाए ॥ ५९ ॥
एवं वट्टंताणं कित्तिय कालम्मि चावि परियलिए ।
संजायं सुब्भिक्खं, जंपइ ता संति आइरिओ ॥ ६० ॥
आवाहिऊण संघं, भणियं छंडेह कुत्थियायरणं ।
णिंदिय गरहिय गिण्हह, पुण रविचारियं मुणिंदाणं ॥ ६१ ॥
तं वयणं सोऊणं उत्तं सीसेण तत्थ पढमेण ।
को सक्कइ धारेउं, एयं अइ दुद्धरायरणं ॥ ६२ ॥
उववासो य अलाभो, अण्णे दुसहाइ अंतरायाइं ।
एक्कट्ठाणमचेलं, अज्जायणं वंभचेरं च ॥ ६१ ॥
भूमीसयणं लोच्चो वे वे मासंहिं असहिणिज्जो हु ।
वावीस परिसहाइं असहिणिज्जाइं णिच्चंपि ॥ ६४ ॥
जं पुण संपइ गहियं, एयं अम्हेहि किंपि आयरणं ।
इह लोयसुक्खयरणं, ण छंडिमोहु दुस्समे काले ॥ ६५ ॥
ता संतिणा पउत्तं, चरियपभट्ठेहिं जीवियं लोए ।
एयं ण हु सुंदरयं, दूसणयं जइणमग्गस्स ॥ ६६ ॥
णिग्गंथं पव्वयणं,जिणवरणाहेण अक्खियं परमं ।
तं छंडिऊण अण्णं, पवत्तमाणेण मिच्छत्तं ॥ ६७ ॥
ता रूसिऊण पहओ, सीसे सीसेण दीहदंडेण ।
थविरो घाएण मुओ, जाओ सो वितरो देवो ॥ ६८ ॥
इयरो संघाहिवई, पयडिय पासंड सेवडो जाओ ।
अक्खइ लोए धम्मं, सग्गंथे अत्थि णिव्वाणं ॥ ६९ ॥

सच्छाइ विरइयाइं णियणिय पासंड गहियसरिसाइं।
वक्खाणिऊण लोए, पवत्तियो तारिसायरणे ॥ ७० ॥
णिग्गंथं दूसित्ता, णिंदित्ता अप्पणं पसंसित्ता।
जीवे मूढयलोए, कयमाय (?) गेहियं वहुं दव्वं ॥ ७१ ॥
इयरो विंतर देवो, संती लग्गो उवद्दवं काउं।
जंपइ मा मिच्छत्तं, गच्छह लहिऊण जिणधम्मं ॥ ७२ ॥
भीएहि तस्स पूआ, अट्ठविहा सयलदव्वसंपुण्णा।
जा जिणचंदे रइया, सा अज्जवि दिण्णिया तस्स ॥ ७३ ॥
अज्जवि सा वलिपूया, पढमयरं दिंति तस्स णामेण।
सो कुलदेवो उत्तो, सेवडसंघस्स पुज्जो सो ॥ ७४ ॥
इय उप्पत्ती कहिया, सेवडयाणं च मग्गभट्ठाणं।
एत्तो उड्ढं वोच्छं, णिसुणह अण्णाणमिच्छत्तं ॥ ७५ ॥

अर्थ—विक्रमराजाकी मृत्युके १३६ वर्ष वाद सोरठ देशकी वल्लभी नगरीमें श्वेताम्बर संघ उत्पन्न हुआ। ५२। (उसकी कथा इस प्रकार है) उज्जयनी नगरीमें भद्रवाहु नामके आचार्य थे। वे निमित्त ज्ञानके जाननेवाले थे, इस लिए उन्होंने संघको बुलाकर कहा कि एक वड़ा भारी वारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाला दुर्भिक्ष होगा। इस लिए सवको अपने अपने संघके साथ और और देशोंको चल जाना चाहिए। ५३–५४। यह सुनकर समस्त गणधर अपने अपने संघको लेकर वहाँसे उन उन देशोंकी ओर विहार कर गये, जहाँ सुभिक्ष था। ५५। उनमें एक शान्ति नामके आचार्य भी थे, जो अपने अनेक शिष्योंके सहित चलकर सोरठ देशकी वल्लभी नगरीमें पहुँचे। ५६। परन्तु उनके पहुँचनेके कुछ ही समय वाद वहाँपर भी वडा भारी अकाल पड़ गया। भुखमरे लोग दूसरोंका पेट फाड़ फाड़कर और उनका खाया हुआ भात निकाल निकाल कर खा जाने लगे। ५७। इस निमित्तको पाकर–दुर्भिक्षकी परिस्थितिके कारण–सवने कम्वल,

दण्ड, तूम्बा, पात्र, आवरण (संथारा) और सफेद वस्त्र धारण कर लिये । ५८ । ऋषियोंका (सिंहवृत्तिरूप) आचरण छोड़ दिया और दीनवृत्तिसे भिक्षा ग्रहण करना, बैठ करके, याचना करके और स्वेच्छा-पूर्वक वस्तीमें जाकर भोजन करना शुरू कर दिया । ५९ । उन्हें इस प्रकार आचरण करते हुए कितना ही समय बीत गया । जब सुभिक्ष हो गया, अन्नका कष्ट मिट गया, तब शान्ति आचार्यने संघको बुलाकर कहा, कि अब इस कुत्सित आचरणको छोड़ दो, और अपनी निन्दा, गर्हा करके फिरसे मुनियोंका श्रेष्ठ आचरण ग्रहण कर लो ॥ ६०–६१ । इन वचनोंको सुनकर उनके एक प्रधान शिष्यने कहा कि अब उस अतिशय दुर्धर आचरणको कौन धारण कर सकता है ? उपवास, भोजनका न मिलना, तरह तरहके दुस्सह अन्तराय, एक स्थान, वस्त्रोंका अभाव, मौन, ब्रह्मचर्य, भूमिपर सोना, हर दो महीनेमे केशोंका लोच करना, और असहनीय बाईस परीषह, आदि बडे ही कठिन आचरण है । ६२–६४ । इस समय हम लोगोंने जो कुछ आचरण ग्रहण कर रक्खा है, वह इस लोकमें भी सुखका कर्ता है । इस दुःषम कालमे हम उसे नहीं छोड सकते । ६५। तब शान्त्याचार्यने कहा कि यह चारित्रसे भ्रष्ट जीवन अच्छा नहीं । यह जैनमार्गको दूषित करना है । ६६ । जिनेन्द्र भगवान्ने निर्ग्रन्थ प्रवचनको ही श्रेष्ठ कहा है । उसे छोडकर अन्यकी प्रवृत्ति करना मिथ्यात्व है । ६७। इस पर उस शिष्यने रुष्ट होकर अपने बड़े डंडेसे गुरुके सिरमें आघात किया, जिससे शान्त्याचार्यकी मृत्यु हो गई और वे मर करके व्यन्तर देव हुए । ६८ । इसके बाद वह शिष्य संघका स्वामी बन गया और प्रकट रूपमें सेवड़ा या श्वेताम्बर हो गया । वह लोगोंको धर्मका उपदेश देने लगा और कहने लगा कि सग्रन्थ या सपरिग्रह अवस्थामें निर्वाणकी प्राप्ति हो सकती है । ६९ । अपने

अपने ग्रहण किये हुए पाषण्डोंके सदृश उसने और उसके अनुयायियोंने शास्त्रोंकी रचना की, उनका व्याख्यान किया और लोगोंमें उसी प्रकारके आचरणकी प्रवृत्ति चला दी। ७०। वे निर्ग्रन्थ मार्गको दूषित वतलाकर उसकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करने लगे । ७१। अब वह जो शान्ति आचार्यका जीव व्यन्तरदेव हुआ था. सो उपद्रव करने लगा और कहने लगा कि, तुम लोग जैनधर्मको पाकर मिथ्यात्व मार्ग पर मत चलो। ७२। इससे उन सबको बड़ा भय हुआ और वे उसकी सम्पूर्ण द्रव्योंसे संयुक्त अष्ट प्रकारकी पूजा करने लगे। वह जिनचन्द्रकी रची हुई या चलाई हुई उस व्यन्तरकी पूजा आज भी की जाती है। ७३। आज भी वह वलिपूजा सबसे पहले उसके नामसे दी जाती है। वह श्वेताम्बर संघका पूज्य कुलदेव कहा जाता है। ७४। यह मार्गभ्रष्ट श्वेताम्बरोंकी उत्पत्ति कही। इससे आगे अज्ञान मिथ्यात्वका स्वरूप कहा जायगा। ७५।

भावसंग्रह विक्रमकी दशवीं शताब्दिका बना हुआ ग्रन्थ है, प्राचीन है, अतएव हमने उस परसे श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्तिकी इस कथाको यहाँ उद्धृत कर देना उचित समझा।

भट्टारक रत्ननन्दिने अपने भद्रबाहुचरित्रका अधिकाश इसी कथाको पल्लवित करके लिखा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी कथाका मूल यही है, परन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थमें इस कथामें जो परिवर्तन किया है, वह बड़ा ही विलक्षण है। उनके परिवर्तन किये हुए कथाभागका संक्षिप्त स्वरूप यह है—"भद्रबाहु स्वामीकी भविष्यद्वाणी होने पर १२ हजार साधु उनके साथ दक्षिणकी ओर विहार कर गये, परन्तु रामल्य, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र आदि मुनि श्रावकोंके आग्रहसे उज्जयिनीमें ही रह गये। कुछ ही समयमें घोर दुर्भिक्ष पड़ा और वे सब शिथिलाचारी हो गये। उधर दक्षिणमें भद्रबाहु स्वामीका

शरीरान्त हो गया । सुभिक्ष होने पर उनके शिष्य विशाखाचार्य आदि लौटकर उज्जयिनीमें आये । उस समय स्थूलाचार्यने अपने साथियोंको एकत्र करके कहा कि शिथिलाचार छोड़ दो, पर अन्य साधुओंने उनके उपदेशको न माना और क्रोधित होकर उन्हें मार डाला । स्थूलाचार्य व्यन्तर हुए। उपद्रव करने पर वे कुलदेव मानकर पूजे गये। इन शिथिलाचारियोंसे 'अर्द्ध फालक' (आधे कपड़ोंवाले) सम्प्रदायका जन्म हुआ । इसके वहुत समय वाद उज्जयिनीमें चन्द्र-कीर्ति राजा हुआ । उसकी कन्या वल्लभीपुरके राजाको व्याही गई । चन्द्रलेखाने अर्धफालक साधुओंके पास विद्याध्ययन किया था, इस लिए वह उनकी भक्त थी। एक वार उसने अपने पतिसे उक्त साधुओंको अपने यहाँ वुलानेके लिए कहा । राजाने वुलानेकी आज्ञा दे दी । वे आये और उनका खूव धूम धामसे स्वागत किया गया । पर राजाको उनका वेष अच्छा न मालूम हुआ । वे रहते तो थे नग्न, पर ऊपर वस्त्र रखते थे । रानीने अपने पतिके हृदयका भाव ताड़कर साधुओंके पास श्वेत वस्त्र पहननेके लिए भेज दिये । साधुओंने भी उन्हें स्वीकार कर लिया । उस दिनसे वे सव साधु श्वेताम्वर कहलाने लगे । इनमें जो साधु प्रधान था, उसका नाम जिनचन्द्र था ।"

अव इस वातका विचार करना चाहिए कि भावसंग्रहकी कथामें इतना परिवर्तन क्यों किया गया । हमारी समझमें इसका कारण भद्रवाहुका और श्वेताम्वर सम्प्रदायकी उत्पत्तिका समय है । भावसं-ग्रहके कर्त्ताने भद्रवाहुको केवल निमित्तज्ञानी लिखा है, पर रत्ननन्दि उन्हें पंचम श्रुतकेवली लिखते हैं। दिगम्वर ग्रन्थोंके अनुसार भद्रवाहु श्रुत-केवलीका शरीरान्त वीरनिर्वाणसंवत् १६२ में हुआ है और श्वेता-म्वरोंकी उत्पत्ति वीर नि० सं० ६०३ (विक्रमसंवत् १३६) में हुई है । दोनोंके वीचमें कोई साढ़े चारसौ वर्षका अन्तर है। रत्ननन्दिजीको इसे

पूरा करनेकी चिन्ता हुई। पर और कोई उपाय न था, इस कारण उन्होंने भद्रबाहुके समयमें दुर्भिक्षके कारण जो मत चला था, उसको श्वेताम्बर न कहकर 'अर्ध फालक' कह दिया और उसके बहुत वर्षों बाद (साढ़े चारसौ वर्षके बाद) इसी अर्धफालक सम्प्रदायके साधु जिनचन्द्रके सम्बन्धकी एक कथा और गढ़ दी और उसके द्वारा श्वेताम्बर मतको चला हुआ बतला दिया। श्वेताम्बरमत जिनचन्द्रके द्वारा वल्लभीमें प्रकट हुआ था, अतएव यह आवश्यक हुआ कि दुर्भिक्षके समय जो मत चला, उसका स्थान कोई दूसरा बतलाया जाय और उसके चलानेवाले भी कोई और करार दिये जायँ। इसी कारण अर्धफालककी उत्पत्ति उज्जयिनीमें बतलाई गई और उसके प्रवर्तकोंके लिए स्थूलभद्र आदि नाम चुन लिये गये । स्थूलभद्रकी श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उतनी ही प्रसिद्धि है जितनी दिगम्बर सम्प्रदायमें भगवान् कुन्दकुन्दकी। इस कारण यह नाम ज्योंका त्यों उठा लिया गया और दूसरे दो नाम नये गढ़ डाले गये। वास्तवमें 'अर्धफालक' नामका कोई भी सम्प्रदाय नहीं हुआ । भद्रबाहुचरित्रसे पहलेके किसी भी ग्रन्थमें इसका उल्लेख नहीं मिलता। यह भट्टारक रत्ननन्दिकी खुदकी 'ईजाद' है।

श्वेताम्बराचार्य जिनेश्वरसूरिने अपने 'प्रमालक्षण' नामक तर्कग्रन्थके अन्तमें श्वेताम्बरोंको आधुनिक बतलानेवाले दिगम्बरोंकी ओरसे उपस्थित की जानेवाली इस गाथाका उल्लेख किया है:—

छव्वास सएहिं नउत्तरेहिं तइया सिद्धिंगयस्स वीरस्स।
कंबलियाणं दिट्ठी वलहीपुरिए समुप्पण्णा॥

अर्थात् वीर भगवानके मुक्त होनेके ६०९ वर्ष बाद (विक्रम संवत् १४० में) वल्लभीपुरमें काम्बलिकोंका या श्वेताम्बरोंका मत उत्पन्न हुआ। मालूम नहीं, यह गाथा किस दिगम्बरी ग्रन्थकी है।

इसमें और दर्शनसारमें बतलाये हुए समयमें चार वर्षका अन्तर है। यह गाथा उस गाथासे बिलकुल मिलती जुलती हुई है जो श्वेताम्बरोंकी ओरसे दिगम्बरोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कही जाती है। और जो पृष्ठ २८ मे उद्धृतकी जी चुकी है ।

७ श्रीश्रुतसागरसूरिने षट्पाहुड़की टीकामें जैनाभासोंका उल्लेख इस प्रकार किया है:—

" गोपुच्छिकानां मतं यथा–इत्थीणं पुण दिक्खा०। श्वेतवाससः सर्वत्र भोजनं प्रासुकं मांसभक्षिणां गृहे दोषो नास्तीति वर्णलोपः कृतः।... द्राविडा सावद्यं प्रासुकं च न मन्यन्ति । उद्भोजनं निरासं कुर्वन्ति । यापनीयास्तु वै गर्दभा इव ससरा (?) इव उभयं मन्यन्ते। रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं केवलिजिनानां कवलाहारं–पर शासने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति । निःपिच्छिकाः मयूरपिच्छादिकं न मन्यन्ते। उक्तं च ढाढसीगाथासुः–

पिच्छिण हु सम्मत्तं करगहिए मोरचमरडंवरए ।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा वि झायव्वो ॥ "

भावार्थः—गोपुच्छक या काष्ठासंघी स्त्रियोंके लिए छेदोपस्थापनाकी आज्ञा देते है। श्वेताम्बर सर्वत्र भोजन करना उचित मानते है। उनकी समझमें मासभक्षकोंके यहाँ भी प्रासुक भोजन करनेमें दोष नहीं है। इस तरह उन्होंने वर्णाश्रमका लोप किया है। यापनीय दोनोंको मानते है। रत्नत्रयको पूजते हैं, कल्पसूत्रको बाँचते है. स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष, केवलियोंको कवलाहार, दूसरे मतवालोंको और परिग्रहधारियोंको मोक्ष मानते है। निःपिच्छिक या माथुरसंघी मोरकी पिच्छी रखना आवश्यक नहीं समझते है। जैसा कि 'ढाढसी नामक ग्रंथमें कहा है कि मोर और चमर (गोपुच्छ) की पिच्छिके आडम्बरमे सम्यक्त्व नहीं है। आत्मा ही आत्माको तारता है। इस लिए आत्माका ही ध्यान करना चाहिए ।

८ दर्शनसार वचनिकाके कर्ता लिखते है–" या आचार्यके किये भावसंग्रह प्राकृत, तत्त्वसार प्राकृत, आराधनासार प्राकृत, नयचक्र संस्कृत, आलापपद्धति संस्कृत, धर्मसंग्रह संस्कृत-प्राकृत, इत्यादि केई ग्रन्थ है। देवसेन नामके कई आचार्य हो गये है। इसलिए इन सब ग्रन्थोंको अच्छी तरह देखे विना यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये सब ग्रन्थ दर्शनसारके कर्ताके ही हैं। 'नयचक्र' नामके ग्रन्थ दो है, एक संस्कृत और दूसरा प्राकृत। प्राकृत नयचक्र माणिकचन्द ग्रन्थमालाके द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। यह भी देवसेनकृत समझा जाता है। एक नयचक्रका उल्लेख विद्यानन्दस्वामी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ श्लोकवार्तिकमें करते हैः–

संक्षेपेण नयास्तावद्व्याख्यातास्तत्र सूचिताः।
तद्विशेषाः प्रपञ्चेन संचिन्त्या नय–चक्रतः॥

—अ० १, सूत्र ३३।

परन्तु श्लोकवार्तिक वि० सं० ८०० के लगभग बना हुआ है, अतएव यह नयचक्र दर्शनसारके कर्त्ता देवसेनसे बहुत पहलेका है।

९ पैंतीसवीं गाथाके 'इत्थीणं पुण दिक्खा' इस पदका अभिप्राय वचनिकाकारने यह लिखा है कि मूलसघमें स्त्रियोंको 'छेदोपस्थापना' नहीं कही है, पर काष्ठासंघके प्रवर्तकने उन्हें छेदोपस्थापनाकी या फिरसे दीक्षा देनेकी आज्ञा दी है। इसके लिए कुन्दकुन्द स्वामीके किसी पाहुड़की यह गाथा दी हैः—

इत्थीणं सुणपभवे (?) अज्जाए छेओपठवणं।
दिक्खा पुण संगहणं णत्थीत्ति-निरूवियं मुणिहिं॥

इसी काष्ठसघके प्रकरणमें देवेन्द्रसेन-नरेन्द्रसेनविरचित सिद्धान्तसार दीपकका उल्लेख किया है और लिखा है कि यह काष्ठासंघका ग्रन्थ है। आश्विन सुदी ५ स० १९७४ वि०।

———

लेखककी अन्य ऐतिहासिक पुस्तकें।

१ विद्वद्रत्नमाला (प्रथम भाग)। इसमें आचार्य जिनसेन, गुणभद्र, आशाधर, वादिराज, मल्लिषेण, अमितगति और समन्तभद्र इन आचार्योंका इतिहास बड़ी खोजके साथ, सैकड़ों प्रमाण देकर लिखा गया है। इसमें ऐसी अनेक नई बातों पर प्रकाश डाला गया है, जो अभीतक किसीको भी मालूम नहीं थीं। पृष्ठसंख्या १८०। मूल्य आठ आने।

२ विद्वद्रत्नमाला (द्वितीय भाग)। इसमें भट्टाकलंक, विद्यानन्दि, शुभचन्द्र, हस्तिमल्ल, वीरनन्दि, शाकटायन, विक्रम, मदनकीर्ति आदि अनेक जैनविद्वानोंका इतिहास बड़े परिश्रमसे, निष्पक्ष होकर लिखा गया है। अभीतक छपा नहीं है। मूल्य लगभग बारह आने।

३ कर्नाटक जैनकवि। कर्नाटकमें कनडी भाषाके बड़े बड़े कवि और लेखक जैनधर्मके पालनेवाले हुए हैं। इस तरहके ७५ कवियोंका और उनके ग्रन्थोंका ऐतिहासिक परिचय इस पुस्तकमें दिया है। पृष्ठसंख्या ३६। मूल्य आधा आना।

४ हिन्दी जैनसाहित्यका इतिहास। इसमें प्रारंभसे लेकर अबतकके जैनकवियों और उनके हिन्दी ग्रन्थोंका परिचय दिया है और स्वतंत्रतापूर्वक जैनसाहित्यकी आलोचना की गई है। पुस्तक बड़े परिश्रमसे और बड़ी खोजके साथ लिखी गई है। हिन्दीके प्रारंभिक रूप और इतिहासके विषयमें बहुतसे नवीन तथ्योंका उल्लेख किया गया है। पृष्ठसंख्या १००। मूल्य छह आने।

मिलनेका पता—
जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, गिरगाँव–बम्बई।

भ्रम-संशोधन।

५० वीं गाथाके अर्थमें (पृष्ठ २१) दर्शनसारके रचे जानेका समय वि० सं० ९०९ लिखा गया है। परन्तु वचनिकाकारने इसके स्थानमें संवत् ९९० लिखा है। 'णवसए णवए' की छाया 'नवशते नवके' न करके 'नवशते नवतौ' करनेसे यह अर्थ ठीक बैठ जाता है। वास्तवमें होना भी यही चाहिए। संवत् ९९० मान लेनेसे माथुर-संघकी उत्पत्ति आदिके सम्बन्धमें जो (पृष्ठ ३९-४० में) शंकायें की गई हैं, उनका भी समाधान हो जाता है। वचनिकामें लिखा है- "या ग्रन्थका कर्त्ता 'देवसेन' नामा मुनि ९५१ के साल भए हैं। तिनने यह ग्रन्थ ९९० के साल किया है।" मालूम नहीं, यह ९५१ की साल देवसेनके जन्मकी है या मुनि होनेकी, और इसका आधार क्या है।

—सम्पादक।

[पीछेसे एक फार्म और भी छपाया गया, इसलिए मूल्य पाँच आना कर दिया गया है ।]